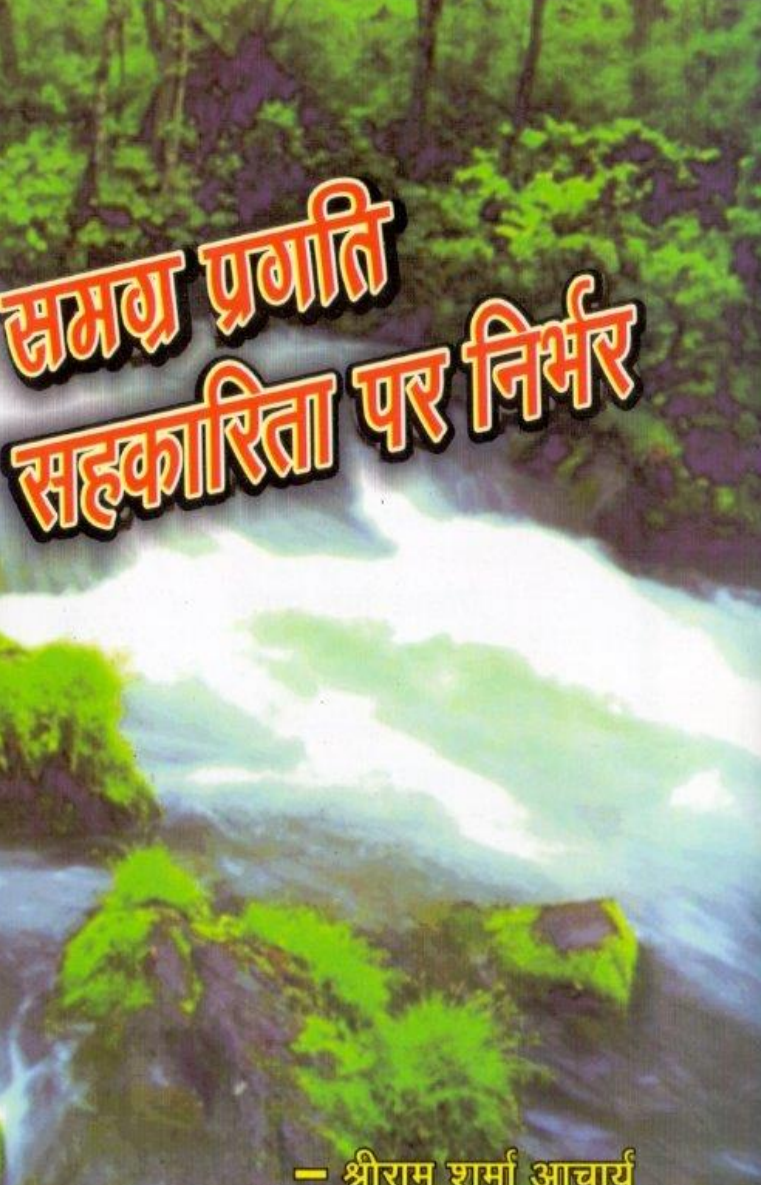
समग्र प्रगति
सहकारिता पर निर्भर
— श्रीराम शर्मा आचार्य

समग्र प्रगति सहकारिता पर निर्भर

लेखक :

श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

आप अकेले नहीं हैं, समाज की एक इकाई हैं !

सामाजिक सहयोग से ही मानवी प्रगति संभव हुई है। एकाकी श्रम प्रयासों से तो वह अन्न, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका जैसी दैनिक जीवन की आवश्यकता तक पूरी नहीं कर सकता। निर्वाह से लेकर उल्लास तक की सभी आवश्यकताएँ जिसे सामूहिक सहयोग से उपलब्ध होती हैं, उसमें मनुष्य का यह भी कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व है कि समाज को सुखी बनाने वाले परमार्थ प्रयोजनों को भी जीवनक्रम में सम्मिलित रखे। परमार्थ की बात सोचे। लोक-कल्याण में रुचि ले और उपकारों का ऋण चुकाए। जब अपने को असंख्यों का सहयोग मिला है तो कृतज्ञता की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। इसके लिए दाँत निपोर देने या शब्द-जंजाल बुन देने से काम नहीं चलेगा, सक्रिय प्रयासों की आवश्यकता पड़ेगी। इन्हीं प्रयासों को लोग मंगल की साधना कहते हैं। धर्मशास्त्रों में इसी को पुण्य परमार्थ कहा गया है और स्वर्ग मुक्ति का, जीवनलक्ष्य की पूर्ति का आधारभूत कारण माना गया है। पूजा-पाठ, स्वाध्याय-सत्संग आदि कृत्यों का उद्देश्य इसी सत्प्रवृत्ति को प्रसुप्ति से उबारकर प्रखर बनाने की भूमिका निभाना है।

वस्तुतः भाग्य या किस्मत जैसी चीज न तो कोई मनुष्य लिखा कर आता है और न ही ऐसी कोई सत्ता है जो विधाता के रूप में प्रत्येक मानव-शिशु के कपाल पर उसके सारे जीवन की घटनाएँ लिखती हो। मनुष्य प्रयत्नों से ही सफल होता है और पुरुषार्थ के बल पर ही अपने भाग्य का निर्माण करता है। लेकिन अपनी मान्यताओं को यहीं तक रखकर दूसरों के हित की उपेक्षा करना या समाज का जरा भी ध्यान न रखना, किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

यह ठीक है कि मनुष्य अपने प्रयत्नों से ही अपना निर्माण करता है, पर यह भी ठीक है कि उसके प्रयत्न तभी सफल होते हैं जबकि उसका समाज जिसमें कि वह रहता है, उसे इस योग्य बना दे। जहाँ तक कि दूसरों के सहयोग के बिना तो वह प्रयत्न करने लायक भी नहीं रहता। मनुष्य को छोड़कर शेष सभी प्राणी ऐसे हैं जो जन्म के तुरंत बाद या थोड़े समय में ही स्वावलंबी बन जाते हैं, पर मनुष्य को लंबे समय तक अपने माता-पिता, परिवार के सदस्य तथा समाज निर्भर रहना पड़ता है। जन्मते ही तो वह पैरों पर खड़ा होना तो दूर रहा, बैठना या करवट बदलना भी अपने आप नहीं सीखता। काफी समय तक उसे माँ की देख-भाल की जरूरत रहती है। अपने पैरों पर खड़े होने की बात को स्वावलंबन के संदर्भ में लें तब तो १०-१२ वर्ष की आयु तक वह इस स्थिति में नहीं आता।

खुद कमाने-खाने लायक बन जाने के बाद भी वह इस योग्य नहीं कि उसे किसी और की सहायता आवश्यक न लगे। अभिभावकों पर अवलंबित रहने से निवृत होने के बाद उसे समाज की सहायता-निर्भरता लेनी पड़ती है। अभिभावकों पर निर्भरता छोड़ने के बाद यदि उसे किसी की सहायता न मिले तो जीवन को कुछ समय तक चला पाना भी कठिन हो जाएगा।

अन्य प्राणियों की आवश्यकताएँ तो सीमित हैं। मांसाहारी जीव कहीं शिकार करके या मरे हुए जानवर पाकर अपना पेट भर लेते हैं। वनस्पतियों पर जीवित रहने वाले जीव-जंतु जंगल में उगी घास, पत्तियाँ या फल आदि खाकर अपना गुजारा चला लेते हैं, पर मनुष्य की आवश्यकताएँ तो केवल भोजन तक ही सीमित नहीं हैं। उसे और भी बहुत कुछ चाहिए, जैसे-पहनने के लिए कपड़े, रहने के लिए मकान, चिकित्सा, शिक्षा, पुस्तकें, मनोरंजन आदि।

अकेले भोजन को ही लें जो जीवन को जाग्रत रखने और शरीर की रक्षा करने के लिए आवश्यक है। मनुष्य का भोजन उन जीव-जंतुओं की तरह प्राकृतिक नहीं होता, जो जिस रूप में मिले उसी रूप में ग्रहण करके अपना काम चला लेते हैं। मनुष्य को अपना भोजन एक खास ढंग से तैयार करना और खाना पड़ता है। इस खास ढंग को अकेला आदमी अपने बलबूते पर तैयार नहीं कर पाता। इसके लिए भी मनुष्य को समाज के अन्य लोगों पर आश्रित रहना पड़ता है।

सबसे पहली निर्भरता है किसान पर, जो अन्न उगाता है। वह बीज कहीं से लाता है, हल और बैल कहीं से जुटाता है। कितने ही लोगों को श्रम करना पड़ता है, तब एक दाना हजार दानों में विकसित होता है। फिर अनाज उगाकर उसे वह व्यापारी के हाथों बेचता है। व्यापारी उस अन्न को बाजार में उपस्थित करता है। आदमी व्यापारी से खरीदकर घर लाता है। उसे पिसवाता है।

जिस चक्की में वह अनाज पिसवाता है, वह किसी दूसरे की होती है, जो फैक्टरियों में तैयार होती है और उसके निर्माण में भी सैकड़ों लोगों के हाथ लगते हैं। अनाज पिसवाने के बाद उसकी रोटियाँ बनाने, भोजन तैयार करने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले बरतनों को भी कितने ही लोगों का श्रम तैयार करता है। इस प्रकार अगणित लोगों के सौजन्य से मनुष्य अपना भोजन तैयार कर पाता है।

माना कि ये सब वस्तुएँ इनकी कीमत चुकाकर प्राप्त की जाती हैं, पर कीमत चुकाने के लिए पैसा भी तो कोई आदमी अपने घर में गढ़कर तैयार नहीं करता। वह भी कहीं मेहनत-मजदूरी कर या नौकरी-धंधे से ही अर्जित किया जाता है। इस प्रकार पैसा प्राप्त करने के लिए भी तो मनुष्यों को अनेकानेक लोगों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है।

यह तो हुई केवल भोजन की बात। भोजन की तरह ही मनुष्य को सरदी से बचाव के लिए वस्त्र और मकान की जरूरत पड़ती है। यदि व्यक्ति स्वयं खेत में उगाकर अनाज को किसी तरह कूट-पीसकर खाने योग्य बनाए तो भी वस्त्रों के लिए उसे समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। सोच लिया जाए कि कपास जिससे निकली रुई से कपड़ा तैयार होता है। यदि आदमी खेत में ही उगाने लगे तो भी उसे कातने, बुनने, सिलने का समय आदमी कहाँ से निकालेगा? यह सब भी हो जाए जो कि लगभग असाध्य ही है तो भी खेती के लिए उसे औजार-उपकरणों को बाजार से ही लाना पड़ता है। हल, फाल, दराती, गाड़ी, बीज आदि के लिए तो समाज की ओर ही देखना पड़ता है।

जिस मकान में आदमी रहता है, वह मकान ईंट, चूने या सीमेंट से तैयार होता है, जो सब समाज के द्वारा ही मिलते हैं। सरदी के दिनों में जाड़ा दूर भगाने के लिए गरम कपड़े पहनने और अंगीठी तापने की सुविधाएँ व्यक्ति अकेले अपने बलबूते पर किस प्रकार अर्जित कर सकता है? इन सुविधाओं को अन्य लोगों के सहयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है।

यह सोचना नितांत एकपक्षीय होगा कि प्राप्त सारी सुविधाएँ और उपलब्ध समस्त साधन हम अपने बलबूते पर ही अर्जित करते हैं, क्योंकि उनका मूल्य चुकाते हैं। प्रतिदान देकर भी कोई वस्तु प्राप्त करते समय प्रतिपक्षी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन सामान्य शिष्टाचार का नियम है। सामान्य शिष्टाचार, जिसके बिना कोई व्यक्ति महान नहीं बनता, केवल औसत सभ्यता में दीक्षित ही समझा जाता है। तो जिस समाज के हम पर इतने उपकार हैं क्या उसके प्रति हम इतने अकृतज्ञ हो जाएँ कि उसे धन्यवाद भी न दें? धन्यवाद देना तो दूर रहा उलटे उसका शोषण करें, उसके लिए भी कुछ किए बिना उसे दोनों हाथों से दुहते चलें। यदि सीखना ही हो तो हमें सहकार-परोपकार का शिक्षण

अन्य प्राणियों से लेना चाहिए जो समाज निष्ठा का धर्म भलीभाँति निमाते हैं।

सृष्टि में जहाँ भी दृष्टि दौड़ाते हैं, संघर्ष का नहीं, सहयोग का ही अस्तित्व नजर आता है। संघर्ष से तो अराजकता, अव्यवस्था फैलती और विकसित जातियाँ भी पतन के गर्त में मिल जाती हैं। सतत लड़ने-मरने पर उतारू जातियाँ आपस में ही भिड़कर समाप्त हो जाती हैं। इस तथ्य को प्राणिजगत के पिछले इतिहास के विकास एवं अवसान की घटनाओं के अध्ययन से भलीभाँति समझा जा सकता है। मनुष्येतर जीवों की कितनी ही बलिष्ठ एवं समर्थ जातियाँ केवल उस कारण लुप्त हो गईं कि उनमें मरने-मारने की हिंसात्मक प्रवृत्ति अधिक थी। उन्होंने आपस में ही लड़कर अपना अस्तित्व समाप्त कर लिया। पूर्वकाल में शक्ति एवं सामर्थ्य की दृष्टि से एक से बढ़कर एक जीव थे। पर उनके आपसी संघर्ष ने उन्हें जीवित नहीं रहने दिया। 'डायनासोर' विशालकाय जीव था। 'डिप्लोडोकस' नब्बे फीट लंबा था। 'ब्रेकियो सोरस' का वजन पचास टन था तथा ऊँचाई बीस फीट थी जो लगभग मकान की दूसरी मंजिल तक ऊँचा दिखाई पड़ता था। टायनोसॉरस के शरीर की लंबाई बीस फीट तथा दाँत की लंबाई ६ फीट थी।

ये सभी 'सरीसृप समूह' के नाम से विख्यात थे तथा सारे भूमंडल पर छाए हुए थे। इनमें से कुछ पानी में, कुछ पृथ्वी पर तथा कुछ आकाश में भी उड़ने वाले जीव थे। शक्ति की दृष्टि से ये महादानव थे, किंतु आपसी संघर्ष के कारण लुप्त होते चले गए। कुछ तो परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण अपना सामंजस्य बिठा पाने में असमर्थ रहे। इसका प्रधान कारण परिस्थितियों की प्रतिकूलता नहीं आपसी सहयोग का अभाव था। एक तो वातावरण की प्रतिकूलता दूसरे संघर्ष की प्रकृति, दोनों के सम्मिलित प्रहार ने उनका अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। विकासवादी एकमात्र इसका कारण परिस्थितियों को बताते हैं, पर इसे पूर्णतया सही नहीं माना जा सकता है।

वैज्ञानिक शोध इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि जीवों में विषम से विषम स्थिति में सामंजस्य स्थापित करने की अद्‌भुत सामर्थ्य विद्यमान है। स्पष्ट है कि आपसी सहयोग रहा होता तो विषमताओं में भी अपना अस्तित्व सुरक्षित रखा जा सकता था, किंतु ऐसा संभव न हो सका। जबकि शक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से नगण्य जीव आपसी सहयोग के कारण जीवित बने रहे । मनुष्य का स्वरूप भूत में जो भी रहा हो, पर यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसमें आपसी सहयोग-सहकार की प्रवृत्ति थी। उसी कारण उसने अपना अस्तित्व बनाए रखा। अपनी इस विशेषता के कारण वह न केवल समूह रूप में सुरक्षित रहा, वरन प्रगति के सोपानों पर क्रमशः चढ़ता गया। तर्कशील इस प्रगति को बुद्धि एवं विचारशीलता की परिणति कहकर संतोष कर सकते हैं, पर तथ्य यह है कि सहयोग एवं सहकार रूपी विचारशीलता ने ही उसे वर्तमान स्थिति तक पहुँचाया है।

अन्य जीवों की तरह मनुष्य ने भी संघर्ष को ही महत्त्व दिया होता तो वह भी आपस में लड़-मरकर समाप्त हो गया होता। विकासवाद के जनक डार्विन ने जीवन के लिए संघर्ष का जो सिद्धांत दिया, उसका अर्थ संकुचित रूप में लिया गया। इस सिद्धांत की समग्रता भी तभी बनती है, जब उसे स्थूल संघर्षों के अर्थ में नहीं जीवन संघर्ष एवं विकास के लिए सतत प्रयास के रूप में लिया जाए। संघर्ष का व्यापक अर्थ यह है-विभिन्न प्राणी एवं मनुष्य मजबूत तथा समर्थ बनें। यह तथ्य स्थूल कम सूक्ष्म अधिक है। तात्पर्य व्यक्ति से नहीं परिस्थिति से है।

डार्विन ने स्वयं भी यह सिद्धांत स्वीकार किया है कि प्राणियों का अस्तित्व परस्पर एक-दूसरे के ऊपर निर्भर है। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ संघर्ष के रूप में लिया तथा कहा कि अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए शक्तिशाली जीव असमर्थों को समाप्त कर देते हैं। परिस्थितियों की महत्ता प्रतिपादित करने की दृष्टि से संभव है कि

डाूवंन ने भी इस सिद्धांत को संकुचित अर्थों में प्रयुक्त किया हो, पर वह एकपक्षीय एवं एकांगी है। उसे शाश्वत सिद्धांत के रूप में तो तभी स्वीकारा जा सकता है जबकि वह सर्वत्र शाश्वत सत्य के रूप में लागू होता हो।

जीवन संघर्ष का अर्थ आपसी टकराव से नहीं था, इसकी पुष्टि स्वयं डार्विन ने 'मनुष्य का अवतरण' नामक पुस्तक में की है। वे लिखते हैं–''विकास के क्रम में असंख्य प्राणि समूहों में पृथक-पृथक प्राणियों का आपसी संघर्ष मिट जाता है, संघर्ष का स्थान सहयोग ले लेता है और इसके फलस्वरूप उनका बौद्धिक एवं नैतिक विकास होता है। इस विकास से ही उन प्राणियों का अस्तित्व बने रहने के लिए अत्यंत अनुकूल अवस्था पैदा होती है।''सरवाइवल आप दी फिटेस्ट' की व्याख्या करते हुए डार्विन इस पुस्तक में स्वयं कहते हैं, ''ऐसे समुदायों में योग्यतम वे नहीं कहे जाते जो सबसे अधिक बलवान या चालाक हैं, वरन समर्थ वे हैं जो अपने समाज के हित के लिए–निर्बल एवं बलवान सभी की शक्ति को इस तरह संगठित करना जानते हों कि वे एक-दूसरे के पोषक हों। जिन समुदायों में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने वाले प्राणियों की अधिकता होगी, वे ही सबसे अधिक उन्नत होंगे और फलेंगे-फूलेंगे।'' वर्तमान में सर्वाधिक विकसित एवं प्रगतिशील समाज के विशद अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि उनके परस्पर स्नेह, सहयोग एवं सहकार की भावना ने ही उन्हें उस स्तर तक बढ़ाया है। अविकसित, पिछड़ी, असभ्य जातियों का गहराई से अध्ययन करने पर एक ही तथ्य हाथ लगता है कि पिछड़ेपन का एकमात्र कारण है–आपसी सहयोग, स्नेह एवं सहकार का अभाव।

जो पशु अपना अस्तित्व बनाए हुए है, उसका कारण भी उनकी सहयोग भावना है। रूसो का कहना है, ''प्रकृति में प्रेम, शांति और

सहयोग कूट-कूटकर भरा है। पशुओं को इन प्रवृत्तियों से रहित समझने वाले व्यक्तियों को जंगलों का पर्यवेक्षण करना चाहिए। उनकी यह विचारधारा निर्मूल सिद्ध होगी कि पशुओं में सामाजिकता का अभाव है।'' डार्विन के सिद्धांत की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या रूसी प्रोफेसर केसलर ने की है। उन्होंने माना है कि सहयोग प्रकृति का नियम और विकास का मूल अंग है। जनवरी, १८८० में अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व रूसी प्रकृतिवादियों के समक्ष उन्होंने अपने ये विचार व्यक्त किए थे।

जीवन संघर्ष के सिद्धांत का दुरुपयोग होता देखकर केसलर ने उसका वास्तविक स्वरूप जनसामान्य के समक्ष रखना अपना कर्त्तव्य समझा। उनका कहना था कि प्राणिशास्त्र और मनुष्य संबंधी अन्य दूसरे शास्त्र सदा उस नियम पर जोर देते हैं, जिसे वे अपनी भाषा में जीवन संघर्ष का निष्ठुर नियम कहते हैं। किंतु ऐसे व्यक्ति एक दूसरे नियम के अस्तित्व को भूल जाते हैं जिसे हम पारस्परिक सहयोग का नियम कह सकते हैं। प्रो. केसलर ने बताया कि किस प्रकार वन्य प्राणी भी परस्पर सहकार की भावना से समूहों में रहते, बच्चे पैदा करते तथा उनके लिए व्यवस्था जुटाते हैं। एक साथ रहने पर वे अपने साथियों का सहयोग भी करते हैं।

अपने भाषण के अंत में प्रो. केसलर ने कहा कि मैं जीवन संघर्ष के अस्तित्व से इनकार नहीं करता, किंतु मेरा कहना यह है कि पारस्परिक संघर्ष द्वारा नहीं बल्कि सहयोग द्वारा प्राणी, संसार एवं मानव जाति का विकास संभव हुआ है। प्राणियों की दो प्रमुख आवश्यकताएँ हैं-एक तो भोजन प्राप्त करना, दूसरा अपनी जाति की वृद्धि करना। इसमें पहली आवश्यकता संघर्ष को जन्म देती है जबकि दूसरी परस्पर सहयोग के लिए प्रेरित करती है। किंतु मेरा विश्वास है कि विकास के लिए दूसरी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं शाश्वत है।

प्रो. केसलर के विचारों का उल्लेख रूस के प्रसिद्ध विचारक प्रिंस क्रोपाटकिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में किया है। जीवन संघर्ष की तथाकथित व्याख्या पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं–"मैं अपने मित्र प्राणि विशेषज्ञ पोलियाकोफ के साथ साइबेरिया के घने जंगलों में गया। डार्विन के सिद्धांत का हम दोनों पर नया-नया असर था। हम दोनों यह आशा लगाए बैठे थे कि हमें एक ही जाति के प्राणियों में तीव्र प्रतिस्पर्द्धा देखने को मिलेगी, किंतु वहाँ इसका कोई नामोनिशान नहीं था।"

जीवन में संघर्ष की स्थिति आती है, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता किंतु वह सृष्टि के सिद्धांत का रूप नहीं ले सकता। हिंसक जीवों से लेकर चोर-डाकुओं, आततायियों से सामना करने के लिए संघर्ष का रास्ता अपनाना पड़ता है। यह उचित है और आवश्यक भी, पर यह अपवाद है। आपत्तिकालीन परिस्थितियों में ही इसका अवलंबन लिया जाता है। संघर्ष जीवन का 'दर्शन' नहीं बन सकता। यदि ऐसा होगा भी तो अंत: दुष्प्रवृत्तियों के लिए। अपनी दुष्प्रवृत्तियों से तो मनुष्य को सतत लड़ना होता है। परिस्थितियों के अनुकूलन के लिए भी अथक प्रयत्न करना होता है। चाहें तो इसी को जीवन संघर्ष की संज्ञा दी जा सकती है, किंतु यही जब बाह्य जीवन में अपने सजातियों के प्रति प्रकट होने लगेगा तो भारी संकट उत्पन्न हो जाएगा। उस स्थिति की कल्पना करें कि संघर्ष को जीवन का सिद्धांत मानकर हर व्यक्ति अपनाने लगे तो कैसी स्थिति होगी? निश्चित ही 'जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली' उक्ति चरितार्थ होगी। 'मत्स्य न्याय' की यह परंपरा मनुष्य को पाषाण युग के आदमखोर मनुष्य के तुल्य बना देगी और कुछ दिनों में सभ्यता लड़-मरकर समाप्त हो जाएगी।

पारिवारिक जीवन में यह परंपरा चल पड़े तो स्नेह आत्मीयता के पावन सूत्रों में बंधे रिश्तों को टूटते देर न लगेगी। जो शारीरिक दृष्टि

से बलवान होगा, वह कमजोरों पर अपना स्वार्थ साधने के लिए अनेकों प्रकार के अत्याचार करेगा। संघर्ष के जीवन दर्शन बन जाने पर कौन माँ निरीह बच्चों का, कौन पिता अनाथ सदस्यों का पालन-पोषण करेंगे? बच्चे की सुरक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा देने वाली माँ क्योंकर यह उदात्त त्याग करेगी ? बच्चों के हितों के लिए अपने सुखों पर लात मारने वाला पिता कभी भी त्याग-बलिदान से भरा कष्टसाध्य जीवन स्वीकार न करेगा। क्रूरता मानवी भाव-सम्वेदनाओं की-सेवा, दया, करुणा की प्रवृत्तियों को रौंदती हुई चली जाएगी। स्थूल परिप्रेक्ष्य में जीवन संघर्ष को सृष्टि का अनिवार्य नियम मान लेने पर तो हृदय-विदारक स्थिति ही प्रस्तुत होगी।

समाज की प्रगति एवं सुव्यवस्था आपसी सहयोग एवं सहकार पर टिकी हुई है। संघर्ष यदि सफलता का आधार बन जाए तो सामाजिक व्यवस्था को विशृंखलित होते देर न लगेगी। अनीति अत्याचार से, शरीरबल से हर व्यक्ति अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। नैतिक पुरुषार्थ की कोई महत्ता न होगी। फलतः प्रगतिशील मानव समाज की भी वह दुर्दशा होगी जो विलुप्त जीवों एवं आदिम जातियों की हुई। स्पष्ट है कि अस्तित्व संघर्ष का नहीं, सहयोग का है, सहकार का है। मनुष्य जाति को सभ्यता एवं संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जीवन दर्शन के रूप में सहयोग एवं सहकार को स्वीकार करना होगा न कि संघर्ष को। जीवों के विकास एवं अवसान के तथ्यों के पर्यवेक्षण से भी यही तथ्य स्पष्ट होता है कि जिनमें यह प्रवृत्ति जितनी अधिक रही, वह उतना ही आगे बढ़ते गए और प्रगति के उच्चतम सोपानों पर चढ़ते गए। सहयोग एवं सहकारिता रूपी उत्कृष्ट जीवन दर्शन को विचारशील मनुष्य जाति को अपनाना ही होगा, तभी वह अपना अस्तित्व अक्षुण्ण बनाए रख सकती है। इसके लिए कोई

क्या करे? यदि यही जानना हो तो पहले स्वयं से सहयोग वृत्ति का शुभारंभ करें। सामान्य शिष्टाचार का ही यही तकाजा है कि इतने अधिक उपकारों से उपकृत होने के बाद उस ऋण से उऋण होने के लिए हम समाज के प्रति कुछ करें, अन्यथा नैतिकता तो अपना कुछ माँगने की अनुमति भी नहीं देती है। वस्तुतः है ही क्या अपना, जो कुछ मिलता है वह समाज की उदारता से ही। जीवन भर भले ही उसे हम अपना कहते रहें। मिले हुए पर कुंडली मारकर बैठे रहें, पर मरने के बाद वह जहाँ का तहाँ ही रह जाता है।

प्रश्न उठता है कि समाज के ऋण से उऋण होने के लिए किस प्रकार और क्या किया जाए ? पहला समाधान तो यही है कि समाज के प्रति हम अपने कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक पूरा करते चलें। हमारे जीवन में कितने ही ऐसे व्यक्ति आते हैं जिन्हें हमारी सहायता की जरूरत होती है। हमें स्वयं भी अपने जीवन में अब तक की सफल जिंदगी के लिए कई एक व्यक्तियों की सहायता लेनी पड़ी है, परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही रूपों में। इसलिए उचित यही है कि जिन्हें सहायता की आवश्यकता है उन्हें संभव सहयोग देते रहा जाए।

प्रत्युपकार के इस आदर्श को अपनाने के साथ कुछ सेवापरायण गतिविधियाँ भी अपनाते चलना चाहिए। अपने उपार्जन का एक अंश निश्चित रूप से समाज-कल्याण के, लोकमंगल के कार्यों में खरच करते रहना चाहिए। इतिहास में ऐसे व्यक्तियों के नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं जो समाज के ऋणी नहीं रहे, वरन समाज को उनका ऋणी बनना पड़ा। कारण कि उन्होंने समाज से जो लिया उससे अधिक ही समाज को दिया। हम यदि उनका अंश-अंश अनुकरण न कर सकें तो कम से कम अपने श्रम, प्रतिभा और उपार्जन का एक अंश समाज के लिए तो लगा ही सकते हैं। वह होना चाहिए निरहंकार भाव से ही।

क्योंकि इस प्रकार हम स्वयं को उऋण तो कर रहे हैं साथ ही प्रत्युपकार द्वारा एक ही तथ्य आत्मसात किया जा रहा है कि व्यक्ति स्वयं एकाकी रूप से अपने ही बलबूते पर नहीं जी रहा है। परमार्थ के कई स्वरूप हो सकते हैं। दान-पुण्य मात्र ही उसमें नहीं आता। आंतरिक उदारता से आरंभ होकर उनकी परिधि क्रमशः विस्तृत होती चली जाती है।

परमार्थों में मूर्द्धन्य है-चिंतन और चरित्र में उत्कृष्टता का समावेश करने में प्रयत्नरत रहना। मनुष्य की संरचना ऐसी नहीं है कि उसे दुखी-दरिद्र रहना पड़े। यह तो मात्र दृष्टिकोण की विकृति मात्र है जो रुझान, चिंतन और व्यवहार में विकृतियाँ भरते-भरते संकटों के पहाड़ सामने ला खड़े करती है। मनःस्थिति सुधरे तो परिस्थिति सुधारने में तनिक भी देर न लगे। विचारणा यदि कुपथगामिनी हो तो सोने की लंका जैसा वैभव, दस सिरों जितना ज्ञान और कुंभकर्ण जैसा बलिष्ठ रहते हुए भी वह समूचा परिकर कुकर्म करेगा और बेमौत मरेगा। तथ्यों को देखते हुए आधारभूत परमार्थ एक ही ठहरता है-सद्ज्ञान संवर्द्धन। लोकमानस का परिष्कार यदि बन पड़े तो सीमित साधनों से ही स्वर्गीय सुख-शांति का रसास्वादन करते जिया जा सकता है। विग्रहों, अपराधों से संत्रस्त जनसमुदाय को अभयदान देने के लिए न शस्त्र कारगर होते हैं और न दमन समाधान के दायरे में भटकते रहने से आत्यंतिक हल निकलता है। इस संदर्भ में अपनाया जाने वाला एक ही उपाय है कि चिंतन की निकृष्टता उलट देने वाले प्रयासों को अपनाया जाए। अंधकार से लड़कर नहीं जीता जा सकता। प्रकाश का प्रज्वलन और वितरण ही वह आधार है जिसमें तमिस्राजन्य भटकाव एवं आतंक को परास्त कर सकना संभव हो सकता है। तथ्य तो सनातन है, पर आज तो उसे प्रस्तुत विभीषिकाओं का सामयिक समाधान भी

माना जा सकता है। आत्मघात पर उतारू जनसमुदाय को विनाश के गर्त से बचाने का एक ही उपाय है कि हर किसी को नए सिरे से सोचने के लिए वातावरण एवं आधार दिया जाए। उलटे को उलटकर सीधा करना ही विचारक्रांति है। इसी प्रयास में इन दिनों प्रज्ञा अभियान अपनी समूची शक्ति लगाकर नवसृजन की प्रक्रिया अग्रसर बनाने में प्राणपण से संलग्न है। विश्वास किया जाना चाहिए कि दुर्गति के रहते दुर्गति से पिंड छूटेगा नहीं। विश्वास किया जाना चाहिए कि सद्भाव संवर्द्धन में यदि सफलता मिले–व्यवहार में सत्प्रवृत्तियों का समावेश हो सके तो वातावरण में काया कल्प जैसा अंतर दिखाई देगा। संपन्नता, सुरक्षा, शांति और प्रगति के लिए बहुत कुछ करने की आवश्यकता है, किंतु यह स्मरण रखा जाने योग्य है कि उज्ज्वल भविष्य की संभावना लोकचिंतन में सदाशयता का समावेश बन पड़ने पर ही मूर्तिमान हो सकेगी। घिनौना चिंतन, कमीना आचरण यदि यथास्थान बना रहा तो फिर समझना चाहिए कि प्रगति और शांति की कल्पना, बिना पंख की उड़ान ही बनी रहेगी।

निदान के उपरांत ही उपचार बन पड़ता है। प्रस्तुत समस्याओं, विग्रहों, संकटों और विभीषिकाओं का एक ही कारण है–जन–मानस में निकृष्टता की भरमार। लोक व्यवहार में अवांछनीयताओं के बढ़ते जाने से उसकी प्रतिक्रिया चित्र–विचित्र प्रकार की कठिनाइयाँ आगे खड़ी करती रहती हैं। जड़ न काटने पर विष के पत्ते तोड़ते, कोपल पोंछते रहने से कुछ बनने वाला है नहीं। तथ्य को जितनी जल्दी समझा जा सके उतना अपना और सबका भला है। आज का सर्वोपरि परमार्थ है–आलोक वितरण। आलोक वितरण अर्थात वह प्रयास जिसको विचाक्रांति आंदोलन, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन, लोक–मानस का परिशोधन आदि नामों से प्रतिपादित एवं प्रस्तुत किया जाता है।

❐

सदाशयता का विकास ही दुर्बुद्धि का निवारण कर सकता है

भौतिक सामर्थ्यों में शरीरबल, धनबल, शस्त्रबल आदि की चर्चा की जाती है। प्राचीनकाल में इनको ही अधिक महत्त्व मिला हुआ था। प्रगति के सोपानों पर बढ़ते हुए विकास-पथ के पथिक मनुष्य के हाथों सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति हाथ लगी बुद्धिबल की। आज की तुलना में प्राचीनकाल में बुद्धि का इतना विकास भी नहीं हुआ था। फलस्वरूप मनुष्य पिछड़ी तथा अविकसित स्थिति में पड़ा था। जैसे-जैसे बुद्धि का विकास हुआ, मनुष्य उत्तरोत्तर गति से प्रगति की ओर बढ़ता गया और आज वहाँ जा पहुँचा जिसे परमाणु युग के रूप में जाना जाता है। जो कुछ भी भौतिक उपलब्धियाँ एवं आविष्कार आज सर्वत्र दिखाई पड़ रहे हैं, वह सब बुद्धि की ही चमत्कारी परिणति है।

शरीर के हर अवयव और संसार के हर पदार्थ के भले-बुरे परिणाम प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। दुरुपयोग सदा कष्टकारक होता है। जिह्वा इंद्रियों का चटोरपन अपनाने और कामेंद्रियों का विषय लिप्सा में उपभोग करने से स्वास्थ्य की जड़ें खोखली हो जाती हैं। फलस्वरूप रुग्णता एवं दुर्बलता का कष्ट भोगते हुए अकाल ही काल-कवलित होना पड़ता है। धन का दुरुपयोग करने से कंगाली पल्ले बंधती और दुष्प्रवृत्तियों का कष्टप्रद प्रतिफल अतिरिक्त रूप से भुगतना होता है। दुरुपयोग सर्वत्र हानिकारक एवं निंदनीय माना जाता है, परंतु बुद्धि का दुरुपयोग तो और भी अधिक भयावह है। दुरुपयोग कर्त्ता मनुष्य अपने लिए तथा समस्त समाज के लिए एक अभिशाप सिद्ध होता है।

आर्षकालीन ऋषिगण बुद्धि की अद्‌भुत सामर्थ्य से अवगत थे तथा उसे मनुष्य के विकास अथवा पतन का कारण मानते थे। बुद्धि-संयत बनी रहे, सदुद्देश्यों में निरत रहे, उच्छृंखल न हो जाए ऐसे

आत्मनियंत्रण हेतु बालक अनेकों बार सुसंस्कारित बनाने की परिपाटी भी इसी कारण थी। परिवार एवं समाज का वातावरण भी ऐसा बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता था, ताकि दुष्प्रवृत्तियों को पनपने का अवसर न मिले। सद्बुद्धि के प्रकाश में व्यक्ति बौद्धिक एवं चारित्रिक स्तर पर देवोपम बना रहता था। फलतः सर्वत्र सुख-शांति की निर्झरिणी प्रवाहित होती थी जिसमें अवगाहन करके भारतवासी स्वयं तो पवित्र रहते ही थे अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक विशेषताओं का लाभ समस्त विश्व को देते थे। अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रकाश से भारत ने समय-समय पर विश्व-वसुधा को आलोकित-प्रकाशित किया है।

पिछली शताब्दी से बुद्धिवाद ने एक नई करवट ली। तर्क और प्रत्यक्षवाद ने श्रद्धा का भाव एवं सहृदयता भरा क्षेत्र छीन लिया। तर्क और प्रमाण के समर्थकों ने मानवी आस्थाओं एवं संवेदनाओं पर गहरा कुठाराघात किया। बुद्धिवाद ने उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धांतों को उपयोगी ठहराया। फिर परमार्थ की बात का, सेवा और सदाशयता का, करुणा और दया की सद्भाव भरी प्रवृत्तियों का समर्थन कैसे हो? स्वच्छंदता की दिशा में अपने एक-एक चरण बढ़ते हुए बुद्धिवाद आज हमें वहाँ ले जा पहुँचा है, जहाँ उत्कृष्टता के प्रति आस्था भी अनुपयोगी और अनावश्यक बनकर रह गई है। निरंकुश बुद्धिवाद घुमा-फिराकर संकीर्ण स्वार्थपरता का ही समर्थन करता है। 'खाओ-पीओ मौज उड़ाओ' की पशु-प्रवृत्तियों को ही सार्थक बताया जाता है। जब कर्मफल, ईश्वर, आत्मा, परलोक के अस्तित्व को ही अप्रामाणिक ठहरा दिया गया, फिर स्वच्छंद आचरण से क्या हानि? कानूनी पकड़ से बचते हुए अनाचार करने की छूट ने मनुष्य को अनास्थावान दुराचारी बनाकर रख दिया है। आज का औसत बुद्धिमान मनुष्य इसी पिछड़े स्तर का है। इस गुजरे स्तर की मान्यताओं को अपनाने वाला मनुष्य कोई ऊँची बात नहीं सोच सकता, ऊँचे काम भी नहीं कर सकता। मान्यताएँ बदलने पर क्रिया-कलाप बदलना

स्वाभाविक है। जैसा सोचा जाएगा वैसा ही किया भी जाएगा। आधुनिक बुद्धिवाद की तथाकथित प्रगति ने न केवल अनास्था का दृष्टिकोण दिया, वरन अनैतिक आचरण की खुली छूट दे दी। परिणाम सामने है पतनोन्मुखी प्रकृति का नर-पशु आदर्शों के समस्त बंधनों को तोड़ता हुआ, उच्छृंखल गतिविधियों को अपनाता हुआ वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन में घोर अशांति उत्पन्न करने की दु:खद भूमिका एवं भविष्य बनाने में संलग्न है।

ऐसी स्थिति में आज जो कुछ हो रहा है, गुजर रहा है-सो सामने है। पशु-पक्षियों के अंडे-बच्चे, रक्त-मांस चट कर जाने का जो व्यापक समर्थन किया गया, उससे क्रूरता का खुला खेल खेलने का अवसर मिला। दूसरों की असह्य पीड़ा को अपने जीभ के स्वाद की तृप्ति अथवा बलवृद्धि की मृगतृष्णा के समक्ष नगण्य समझा गया। बिलखते और चीत्कार करते निरीह प्राणी का आर्तनाद जब अपनी मेज पर रखी जायकेदार प्लेट से टकराकर वापस लौटा तो साथ ही मनुष्य के अंतरंग में रहने वाली करुणा को समेटता-घसीटता ले गया। निर्दयता आहार के सहारे बढ़ी और अपना क्षेत्र बढ़ाते हुए उसने मनुष्यता को भी लपेट में ले लिया। पशु-पक्षी जब सताए-मारे जा सकते हैं तो इस दुष्प्रवृत्ति की लपेट से मनुष्य ही क्योंकर बचे? मनुष्य भी आखिर एक प्राणी है, उसके साथ भिन्न ढंग से सोचने की क्या आवश्यकता?

निरंकुश बुद्धिवाद के बढ़ते हुए प्रभाव ने मनुष्य का भी मूल्यांकन अन्य प्राणियों की ही भाँति किया है। फलस्वरूप निर्दयता एवं निष्ठुरता का वातावरण बढ़ रहा है। एक-दूसरे का रक्त-मांस खाने का अभ्यस्त तो अभी मनुष्य नहीं हो सका है, पर अनीति और अनाचार से किसी को सताने में जो झिझक होती है उसे बहुत अंशों तक त्याग दिया है। एक तो वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावत: पाप और पतन की ओर बढ़ रही थी। बुद्धिवाद द्वारा उसे समर्थन मिल जाने पर अनाचार के लिए खुली छूट मिल गई। नीति, सदाचार, सामूहिकता, नागरिकता,

सज्जनता आदि उत्कृष्टताएँ मात्र वाक चर्चा की विषयवस्तु बनकर रह गई हैं। व्यक्ति और समाज इसी प्रभाव से प्रभावित होता, इसी रंग में रँगता चला जा रहा है। फलस्वरूप मनुष्य की स्थिति विचित्र हो गई है। भोगवाद की वासना, तृष्णा एवं अहंता की संकीर्ण परिधि में ही इच्छाएँ, आकांक्षाएँ परिश्रम करती रहती हैं तथा उनकी पूर्ति के निमित्त जाल-जंजाल रचती रहती हैं।

इन परिस्थितियों में दुष्प्रवृत्तियों का संसार में बढ़ते चलना स्वाभाविक है। प्रकृति पर भी मनुष्य इतना नियंत्रण नहीं प्राप्त कर सका है कि दुष्प्रवृत्तियाँ तो बढ़ती रहें, पर उनके साथ रोग, शोक, कष्ट, संताप, कलह, विग्रह, अपराध, अनाचार, उत्पीड़न, चीत्कार न बढ़े। प्रकृति अपना धर्म जोड़ने से रुकी नहीं है। क्रिया की प्रतिक्रिया न हो, ऐसा कोई तर्क या विज्ञान नहीं निकला है। असंतुष्ट दुष्प्रवृत्तियों के साथ-साथ आंतरिक क्षोभ, बाह्य विद्वेष, आक्रमण-अवरोध, हिंसा-प्रतिहिंसा, क्षोभ-असंतोष का कुचक्र भी चल रहा है। समाज व्यवस्था में इतनी विकृतियाँ आ गई हैं कि न तो व्यक्ति समूह के लिए उपयोगी रहा है और न समुदाय की घुटन व्यक्ति को संतोष की सांस लेने दे रही है। अगले दिन और भी दु:खद-भयंकर हो सकते हैं। यदि दुर्बुद्धि का कुचक्र भी इसी प्रकार चलता रहा तो कुमार्गगामी बुद्धि विपत्तियों का घटाटोप ही प्रस्तुत करती रहेगी। स्वास्थ्य संतोष, सद्भाव, सज्जनता, प्रेम, विश्वास, अर्थ-संतुलन एक-एक करके विलीन होते चले जा रहे हैं। चिंता, भय, आशंका, निराशा, विक्षोभ, उद्वेग, घृणा और ईर्ष्या की आग में अंत:करण सदा जलते रहते हैं। हर घड़ी असंतोष और खीझ के कारण जीवन जलता हुआ दीखता है।

यह तो व्यक्ति की निज की आंतरिक स्थिति हुई है। समूहगत परिस्थितियाँ और भी भयावह हैं। बेकारी, बेरोजगारी, महँगाई, चोरी, ठगी, जालसाजी, बेईमानी की प्रबलता जीवन को असह्य बनाए दे रही है। सर्वत्र शोषण का जाल बिछा है। बाजार में नकली वस्तुओं एवं मिलावट का बाहुल्य है। ऊँची कीमत देने पर भी खरी वस्तुएँ मिल

जाएँ इसकी कोई गारंटी नहीं है। राजनीति और शासनतंत्र में हेय व्यक्तित्वों की भरमार है। इस वातावरण में न तो व्यक्ति सुखी रह सकता है और न ही समाज का ढाँचा स्थिर रह सकता है। आज की विषम परिस्थितियों से कोई संतुष्ट नहीं है। क्षोभ और असंतोष की प्रवृत्ति व्यक्ति से लेकर अंतरराष्ट्रीय कूटनीति तक में चरम सीमा पर पहुँचती जा रही है। अनीति की अनाचार की शिकायत तो सभी करते हैं। सभी उनसे संत्रस्त भी हैं, पर आश्चर्य यह कि अधिकांश उन्हें ही अपनाए हुए हैं। इसे एक विडंबना ही कहा जाएगा।

प्रश्न यह है कि क्या इन परिस्थितियों को ज्यों का त्यों बना रहने दिया जाए? इन्हें यथाक्रम बढ़ने ही दिया जाए? प्रबुद्ध वर्ग ने यदि आँखें मींच लीं तो न चाहते हुए भी उपर्युक्त परिस्थितियाँ और भी अधिक उग्र एवं विस्फोटक होती चली जाएँगी। समझदारी और जिम्मेदारी सदा अनुपयुक्त को सँभालने और अनावश्यक को रोकने के लिए आगे बढ़ने की, सामना करने की प्रेरणा देती रही है। आज भी यही बात है जो अपने अंत:करण में दूरदर्शिता, सहृदयता, विवेकशीलता एवं समर्थता अनुभव करते हों, उन्हें अंत:प्रेरणा भी कचोटेगी और मानवता की पुकार भी विवश करेगी कि वासना-तृष्णा के लिए मरते-खपते रहने तक सीमित न रहकर कुछ अधिक करने के लिए आगे बढ़ा जाए और विश्व की बिगड़ती हुई परिस्थितियों को सँभालने के लिए कुछ आत्मबल, साहस एवं त्याग का परिचय भी दिया जाए।

कहा जा चुका है कि बुद्धिबल इस युग की सबसे बड़ी शक्ति है जिसके सदुपयोग पर मानव जाति का भविष्य आधारित है। आज की विषम परिस्थितियों की उत्तरदायी मानवी दुर्बुद्धि ही है जिसने चिर अतीत से चली आ रही स्वर्गीय परिस्थितियों को नरक में बदलकर देवत्व का वरण करने वाले मनुष्य को नर-पशु और नर-पिशाच में परिवर्तित कर डाला। यह दुर्बुद्धि ही है जो सुख-शांति की परंपरा को सर्वनाश की परिस्थितियों में परिणत कर रही है। व्यक्तिगत जीवन में

अनाचार और सामूहिक जीवन में भ्रष्टाचार उसी द्वारा उत्पन्न किए गए हैं। मूढ़ मान्यताएँ, कुरीतियाँ, दुष्प्रवृत्तियाँ जिस एक माँ की सहोदर बेटियाँ हैं, उसका नाम है दुर्बुद्धि।

इसे यथाक्रम में चलने दिया गया तो कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ेंगी और कुछ ही दिन में यह संसार दु:ख-दारिद्रय के दावानल में जलने लगेगा। आपत्तिकालीन परिस्थितियों में हर समझदार व्यक्ति को आपत्ति धर्म का पालन करना पड़ता है। पड़ोस में आग लगी हो, कोई दुर्घटना घटी हो तो अपना सामान्य दैनिक क्रम हर्ज करके भी आपत्तिग्रस्तों की सहायता करनी पड़ती है। जिनकी अंतरात्मा कहती है कि आज विश्वव्यापी आपदा की घड़ी है, इस विषम समय में हमें भी कुछ करना चाहिए, उन्हें लोभ, मोह के संकीर्ण बंधनों से बाहर निकलना होगा। विवेकवान होते हुए भी अंत: की पुकार की जो उपेक्षा करते हैं, उन्हें आत्मघाती ही कहा जा सकता है।

परिस्थितियों की प्रस्तुत विभीषिकाओं का रोना रोने से काम नहीं चलेगा। समस्याएँ दुर्बुद्धि द्वारा उत्पन्न की गई हैं। समाधान सद्बुद्धि द्वारा ही निकलेगा। उच्छृंखलता की ओर बढ़ते दुर्बुद्धि के बेलगाम घोड़े पर सद्भावना एवं सदाशयता का अंकुश लगाना होगा। यह वे ही कर सकते हैं, जिनके अंत:करण की संवेदनाएँ जीवंत है। आवश्यकता भाव संवेदनाओं से अनुप्राणित ऐसे बुद्धिमानों-विचारशीलों की पड़ेगी जो मनुष्य की महानता को आस्थावान, आदर्श एवं सिद्धांतनिष्ठ जीवन को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं तथा उसे व्यक्ति एवं समाज की स्थायी सुख-शांति का आधार मानते हैं। इस युग की सर्वोपरि शक्ति 'बुद्धि' यदि सृजन की दिशा में चल पड़े तो प्रस्तुत समस्त संकटों का निवारण पूर्णरूपेण संभव है।

निरंकुश बुद्धिवाद के अतिरिक्त एक और बुद्धि की विकृति इन दिनों जनमानस में संव्याप्त है कि एकाकी रहने, अपना ही अपना लाभ सोचने, अनीति बरतने में ही लाभ है। नीति का, सहकार का मार्ग हर दृष्टि से घाटे का सौदा है। तथ्यों की गहराई में जाने पर यह मान्यता

सही नहीं उतरती। सचाई यह है कि बेईमान व्यक्ति भी प्रत्यक्ष में ईमानदारी का समर्थक एवं प्रशंसक पाया जाता है। बेईमान व्यक्ति भी ईमानदार साथी चाहता है। प्रामाणिक व्यक्तियों की सरकारी, गैर-सरकारी सेवाओं में सर्वत्र माँग है। यह इस बात का परिचायक है कि ईमानदारी वरणीय है। ईमानदार व्यक्ति केवल अपने आत्मीय परिजनों में ही सम्मान नहीं पाता वरन शत्रु तक उसकी सचाई एवं ईमानदारी की प्रशंसा किए बिना नहीं रहते।

समाज में प्रामाणिक व्यक्तियों की कमी होने से ईमानदारी का महत्त्व कम नहीं हो जाता। प्रकृति के भंडार में सोना, हीरे, मोती, रत्न कम ही परिमाण में मिलते हैं, सर्वत्र नहीं पाए जाते, उनका मूल्य प्रचुर मात्रा में हर जगह पाए जाने वाले पदार्थ-लकड़ी, कोयला, पत्थर आदि की तुलना में कहीं अधिक होता है। ईमानदार व्यक्ति को हजारों मनकों के बीच अलग चमकने वाले हीरे सदृश कहा गया है जिसका मूल्य अन्य सभी मनकों की अपेक्षा अधिक आंका जाता है। वर्तमान समय में ईमानदारी के उदाहरण मिलने में कठिनाई तो है, वे कम ही देखने में आते हैं, फिर भी उनका सर्वथा अभाव नहीं है। समाचारपत्रों में समय-समय पर ऐसे अनुकरणीय आदर्श प्रकाशित होते रहते हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी संख्या चोरी, बेईमानी, लूट-खसोट, हत्या, डकैती आदि अनैतिक घटनाओं की तुलना में अत्यल्प होती है। न्यूनता होने पर भी ईमानदारी की महत्ता एवं गरिमा कम नहीं होती। खोजे जाने पर ईमानदार एवं कर्त्तव्यनिष्ठों के उदाहरण मिलते रहते हैं।

२४ जून १९८२ के दैनिक हिंदुस्तान में प्रकाशित ईमानदारी एवं कर्त्तव्यनिष्ठा की घटना बड़ी ही प्रेरक है। २१ मई १९८२ को ७५ वर्षीया श्रीमती कमरुन्निसा अपने पौत्र-पौत्री के साथ भोपाल-जबलपुर बस से यात्रा कर रही थीं। उनका एक थैला बस में छूट गया जिसमें लगभग २२ हजार रुपये के आभूषण आदि थे। बस के चालक-परिचालक ने अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा एवं ईमानदारी का परिचय देते हुए उस थैले को

भोपाल डिपो की सुरक्षा शाखा में जमा करा दिया। पूछताछ के उपरांत वह थैला श्रीमती कमरुन्निसा को वापस कर दिया गया। २३ जून को भोपाल से १२० किलोमीटर दूर बरेली में विधायक जसवंत सिंह की अध्यक्षता में एक समारोह आयोजित किया गया जिसमें उक्त बस के चालक श्रीराम यादव और परिचालक श्री रियाज मियाँ को उनकी ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए सार्वजनिक रूप से सम्मानित किया गया। समारोह के अध्यक्ष की ओर से उन्हें प्रशस्ति-पत्र एवं दीवाल घड़ी भेंट की गई। मध्य प्रदेश राज्य-परिवहन निगम द्वारा प्रत्येक को १०१ रुपये का नकद पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गई।

कुछ लोगों ने उनकी निष्ठा को परखने के लिए चुटकी लेते हुए पूछा कि सौ दो सौ रुपये के इनाम से आपको क्या फायदा हुआ २२ हजार का माल रख लेते तो कुछ काम भी आता। उन्होंने बड़ी सहजता से उत्तर दिया कि मुझे निर्वाह से जो आत्म संतोष और आंतरिक आनंद मिला उसे २२ हजार क्या, २२ लाख रुपयों से भी कोई नहीं प्राप्त कर सकता। सच पूछिए तो हमें न कोई पुरस्कार पाने की लालसा रही और न समारोह में सम्मानित किए जाने की। हमने अपना कर्त्तव्य पूरा किया इसी से मैं पूर्ण संतुष्ट हूँ।

इस भ्रष्टाचार के जमाने में भी ऐसे ईमानदार लोग हैं जो अत्यंत निर्धन होने के बावजूद किसी की चीज या धन पर अपना ईमान नहीं डिगाते और पाई गई वस्तु को उसके मालिक को लौटाने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। गत वर्ष २३ जुलाई को मोरिण्डा पंजाब के पास की घटना है। श्रीमती शांतिदेवी नामक महिला ने भैंस खरीदने के लिए पाँच सौ रुपए बैंक से ऋण लिए थे। रास्ते में वे बैंक की पास-बुक सहित स्थानीय बस-अड्डे के समीप गिर गए। वहाँ से गुजर रहे मिल्क को-ऑपरेटिव यूनियन के श्री गुरुचरण सिंह को वह पास-बुक पाँच सौ रुपयों सहित मिली। बाद में श्री गुरुचरण सिंह ने श्रीमती शांति देवी के घर का पता लगाकर उसे उसकी खोई हुई पास-बुक एवं धनराशि

वापस कर दी। उक्त घटना २४ जुलाई १९८१ के पंजाब केसरी दैनिक में छपी थी।

२२ जुलाई १९८१ के वीर अर्जुन दैनिक समाचारपत्र में ईमानदारी का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने वाली एक और घटना प्रकाशित हुई थी। ठेले पर चाय बेचने वाले श्री ब्रजमोहन ने एक १२ वर्षीय लड़के के कब्जे से ५१,४५० रुपये के नोट पुलिस को सौंप दिए। ब्रजमोहन को इस कार्य के लिए एक प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया गया। पुलिस अधिकारियों ने बताया कि भिवानी जिले के भादेरा गाँव का धर्मवीर नामक किशोर वय का लड़का अपने पिता के घर से ये रुपये निकालकर भाग आया था। उसने ब्रजमोहन से नौकर रख लेने को कहा था।

गत वर्ष १ सितंबर का समाचार है। बंबई (मुंबई) जैसी आधुनिकतम नगरी में भी ईमानदार व्यक्ति रहते हैं, इस बात का परिचय वहाँ के एक बस परिचालक श्री वी. आई. बल्लाल ने अपनी ईमानदारी एवं कर्त्तव्यनिष्ठा प्रस्तुत करते हुए दिया। उक्त बस परिचालक को अपनी बस में ३२ हजार रुपए की कीमत के आभूषण तथा कुछ दस्तावेजों सहित एक संदूक मिला। इस संदूक के बारे में मालिक के अलावा केवल उसे ही मालूम था। उसने संदूक को प्रतिष्ठान के गुमशुदा संपत्ति कार्यालय में जमा करा दिया।

अगले दिन संदूक का मालिक एक स्वर्णकार आया, पूछताछ के बाद उसे दे दिया गया। अपने संदूक में आभूषण एवं दस्तावेज ज्यों के त्यों रखे पाकर उसका हृदय बस परिचालक के प्रति कृतज्ञता से भर गया। उसने १०१ रुपये उसे इनाम स्वरूप देने चाहे, किंतु श्री बल्लाल ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया और कहा यह तो मेरा छोटा सा उत्तरदायित्व था। मैंने कोई एहसान का कार्य थोड़े ही किया।

इसी से मिलती-जुलती ईमानदारी का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करने वाली घटना चमोली जिले की है। दिल्ली के एक उद्योगपति श्री

हंसराज गढ़वाल मोटर्स लिमिटेड की बस में चमोली से कोपेश्वर आ रहे थे, उनका पर्स बस में छूट गया। १५००० रुपये व अन्य जरूरी कागजात थे। अगले दिन जी. एम. ओ. कम्पनी के श्री रघुवीरसिंह नेगी को वह पर्स मिला। काफी ढूँढ़-खोज करने पर पर्स के स्वामी का पता चला। श्री नेगी ने उसे श्री हंसराज को वापस कर दिया। श्री हंसराज ने उन्हें पुरस्कार स्वरूप ५०० रुपये देने चाहे, परंतु श्री नेगी ने इसे अपना कर्त्तव्य कहकर मना कर दिया।

वस्तुत: ईमानदारी व्यक्ति के भीतर से पैदा होने वाला आध्यात्मिक गुण है, जिसे ऊपर से थोपा नहीं जा सकता। यह तो उच्चस्तरीय दृष्टिकोण और श्रेष्ठ व्यक्तित्व का प्रमाण है। कुछ वर्ष पूर्व की बात है–दिल्ली सुभाष नगर के श्री विजयवीर और कृष्णनगर निवासी श्री प्रेमसागर नामक दो व्यापारी मित्रों ने ईमानदारी का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया। दोनों मित्र किसी कार्यवश साथ-साथ बात-चीत करते हुए जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक थैली पड़ी मिली जिसमें ४०० रुपये थे। उस राशि को उन्होंने अविलंब दरियागंज थाने में जमा करा दिया। कहा जाता है कि व्यापारी धन के लोभी होते हैं लेकिन उक्त मित्रों ने लोगों की इस मान्यता को निरस्त कर दिखाया। थानाध्यक्ष के द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने बताया कि अपने व्यवसाय में वे लाभांश अवश्य लेते हैं पर किसी दूसरे की चीज पर नीयत खराब नहीं करते।

बस कंडक्टरों के बारे में आमतौर से लोगों की राय यह पाई जाती है कि चंद पैसों के लिए हेर-फेर करते हैं, पर दो-तीन वर्ष पूर्व लखनऊ में रोडवेज के कंडक्टर श्री उमानाथ मिश्र ने जिस राष्ट्रीय चरित्र का परिचय दिया, वह अनुकरणीय एवं अभिनंदनीय है। उन्हें उनकी ईमानदारी के कृत्य के उपलक्ष्य में सार्वजनिक रूप से अभिनंदित भी किया गया। उनकी बस में छूटे ८६००० रुपयों के थैले जिसके मालिक को उन्होंने निस्पृह भाव से लौटा दिया। मालिक द्वारा पुरस्कार के प्रस्ताव को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया और कहा–"मुझे तो

पुरस्कार मिल गया। जो आत्मसंतोष एवं आत्मगौरव मुझे मिला उसकी बराबरी दुनिया का कोई भी इनाम नहीं कर सकता।

ऐसे व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने पर उतारू हो जाएँ तो अपनी मौलिक विशेषता के कारण शिखर पर जा पहुँचते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रामाणिक एवं ईमानदार दुकान व्यवसायियों की खोज सभी व्यक्ति करते हैं। एक बार विश्वास जम जाने पर ग्राहक टूटते नहीं। बेईमान व्यक्ति प्रारंभ में भले ही कुछ अधिक कमा लें लेकिन एक बार पोल खुलते ही ग्राहक टूटने लगते हैं। वस्तुत: बेईमानी भी ईमानदारी का लबादा ओढ़कर ही सफल होती है। यदि ऐसा न हो तो उसकी सफलता संदिग्ध ही रहेगी। सरकारी अथवा गैर-सरकारी सेवाओं में कार्यरत व्यक्ति भी अपनी ईमानदारी, कार्यकुशलता एवं प्रामाणिकता के बलबूते निरंतर आगे बढ़ते जाते हैं।

ईमानदारी का अवलंबन सभी के लिए सुगम है, बेईमानी के लिए बड़ी चतुरता अपनानी पड़ती है। थोड़ी सी बेईमानी को छिपाने के लिए अतिचातुर्य की आवश्यकता होती है। बेईमानी की दुर्गंध अपने आप फैलती रहती है और समीपवर्ती वातावरण में स्वत: भरती रहती है। चतुराई बहुत दिनों तक चल नहीं पाती, धीरे-धीरे यथार्थता प्रकट होती ही चली जाती है। वस्तुस्थिति प्रकट होते ही लोगों की दोहरी प्रतिक्रिया आरंभ हो जाती है। जिस व्यक्ति का जुआरी, लुच्चा, उचक्का होना सर्वविदित है, उसका परिचय तो लोग सहन भी कर लेते हैं, किंतु जब भले आदमी के नाम से प्रख्यात मनुष्य की पोल-पट्टी सामने आती है तो उस भलमनसाहत या सफेदपोशी की आड़ में चल रही बेईमानी के संबंध में जानकर लोग दोहरी घृणा करने लगते हैं। उस व्यक्ति पर 'काठ की हाँड़ी दोबारा नहीं चढ़ती ' की उक्ति चरितार्थ होने लगती है। उसकी धूर्तता का परिचय पाकर लोग सदा के लिए सतर्क हो जाते हैं और फिर ईमानदारी बरतने पर भी सहज ही उसका

विश्वास नहीं करते। इस प्रकार बेईमानी या धूर्तता का अवलंबन लेने वाला व्यक्ति अपने सच्चे सहयोगी-समर्थकों से रहित हो जाता है, कुछ चापलूस लोग भले ही उसकी चापलूसी करते रहें। जिसके सच्चे सहयोगी कम होते जाएँगे उसके क्रिया-कलापों में उतनी ही कठिनता बढ़ती जाएगी और लाभ के स्थान पर हानि होने लगेगी। एक दिन ऐसा आता है जब बेईमान व्यक्ति को स्वयं अपने अनुभव के आधार पर यह सोचना पड़ता है कि बेईमानी परले सिरे की मूर्खता है। उसका अंतिम परिणाम हानिकर ही होता है।

क्षुद्र या बचकाने लोग ही यह सोचते हैं कि बेईमानी या धूर्तता भरी अनीति के मार्ग से जल्दी धन कमाया जा सकता है। वे यह भूल जाते हैं कि ईमानदारी एवं आदर्शवादिता अपनाने पर प्रारंभ में भले ही कुछ कठिनाई से होकर गुजरना पड़े, लेकिन जब व्यक्ति की प्रामाणिकता को समाज परख लेता है तो सर्वत्र उसका सम्मान बढ़ जाता है। फलतः उसके सच्चे समर्थक एवं सहयोगी बढ़ते जाते हैं और वह सफलता एवं समृद्धि की मंजिल तक पहुँच जाता है। बेईमानी का तो परदाफाश होने पर उसकी कोई पूछ नहीं रहती। लोगों की दृष्टि में बेईमान का मूल्य गिर जाता है, फिर वे उसके ईमानदारी अपनाने पर भी उसका विश्वास नहीं करते। जिन्हें ईमानदारी घाटे का सौदा जान पड़ता था अंततः वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईमानदारी की नीति ही अंततोगत्वा लाभदायक होती है। बेईमानी की प्रारंभिक चकाचौंध भले ही प्रारंभ में भटका भर दे। यदि सब इस तथ्य को जान लें तो न ही अपराध नजर आएँ न अशांति। बेईमानी की वृत्ति, संकीर्ण स्वार्थपरता की ही परिणति है जो व्यक्ति को एकाकी व अपराधी बनाती है। यदि सब समष्टि का हित सोचने लगें, नीति के मार्ग पर चलें, सहकार-औदार्य की वृत्ति का विकास करें तो समाज में निश्चित ही सुख-शांति रह सकती है।

❐

सहकारिता ही प्रगति का आधार खड़ा करती है

यह सारा संसार सहकारिता के सिद्धांत पर काम कर रहा है। यदि कोई यह विचार करे कि वह इस जीवनयात्रा में एकाकी ही रहकर अपने लक्ष्य पा लेगा तो यह असंभव ही माना जाना चाहिए। स्रष्टा ने इसी कारण असंख्य ग्रह-नक्षत्रों, तारामंडलों एवं गुच्छकों का एक परिवार बसाया है। आपसी सहकार के आधार पर ही उनकी विधि व्यवस्था टिकी हुई है। यदि इनमें से एक भी ग्रह बिना दूसरे की चिंता किए अपनी दिशा स्वयं निर्धारित करने लगे तो अंत विनाशकारी ही होगा।

विश्व का एक छोटा सा संस्करण परिवार व्यवस्था के रूप में दीख पड़ता है। समाज की यह इकाई अपने आप में समग्र हो पाती है तो मात्र उसके सदस्यों की परस्पर सहजीवी भावना के कारण। परस्पर स्नेह, सौहार्द्र एवं सहयोग जिंदा न रहे तो देखते-देखते बने बनाए संयुक्त कुटुंब विघटित होते चले जाते हैं। ऐसी ही कुछ व्यवस्था विश्वनियंता ने प्रकृति के अपने साम्राज्य में की है। कीट-पक्षी, वृक्ष-पुष्प, मानव-वनस्पति इत्यादि परंपरा सहकारिता के आधार पर ही जीवन जीते हैं। अध्यात्म प्रतिपादक यह बताते हैं कि विराट ब्रह्म की असीम चेतना ही चारों ओर व्याप्त है। लघुतम इकाई में संव्याप्त चेतना का सहज स्वभाव है-स्नेह सहयोग। इकोलॉजी विज्ञान के अध्येता बताते हैं कि प्रकृतिगत संतुलन इसी स्नेह सहयोग पर आधारित है।

मनुष्य का प्रतिक्षण साँस से प्राणवायु ग्रहण करना, उन वृक्षों के कारण संभव हो पाता है जो वातावरण में निरंतर इसे उत्सर्जित करते रहते हैं। भले ही इसके लिए उन्हें बदले में कार्बन डाइआक्साइड के रूप में विष क्यों न पीना पड़े। वृक्षों का स्वयं का विकास, उनका

फलना-फूलना भी कीट-पतंगों तथा पशु-पक्षियों के समुदाय के सहयोग पर निर्भर है। सह-अस्तित्व के ऐसे अनोखे उदाहरण मनुष्य को प्रेरणा देते रहते हैं कि वह भी अकेला न रहकर परस्पर सहयोग की अपनी अंत:वृत्ति का विकास करे।

स्रष्टा ने प्रकृति को अनगिनत रंगों से भर दिया है। दिन-रात फूलों के बीच रहकर भी क्या कोई ऐसा बन सकता है। फूलों में खुशनुमा रंग, मनमोहक गंध और मादक रस क्यों होते हैं? इसका समाधान हमें मिलता है, फूल-कीटों के उस अद्‌भुत साहचर्य को देखकर, जिसके कारण कीट उनकी वृद्धि में सहायक होते हैं। परागण प्रक्रिया के लिए फूलों को पक्षियों-पतंगों-कीटों की आवश्यकता होती है, पर यह सेवा एकांगी नहीं है। बदले में वह अपना मधुर मधु उन्हें छानकर पीने को देते हैं। तितलियाँ इस रस को पीने हेतु एक से दूसरे पौधे पर जाती हैं। साथ ही अपने पैरों और परों में उनका पराग लपेटकर यहाँ से वहाँ बिखेरती जाती हैं। फूलों का परिवार अपनी वंश-वृद्धि इसी प्रकार करता है। शहद की मक्खी इसी पराग को अपने पुरुषार्थ से मधु में बदल देती है, जो मानव के लिए उपयोगी होता है। संगठन और सहयोग की इसी प्रक्रिया को अपनाकर प्रत्येक घटक उत्कर्ष के पथ पर बढ़ता है।

फल अपने मित्रों को रिझाने के लिए तरह-तरह के रंगरूप एवं गंधों से अपने को सुसज्जित करते हैं। कई तो चटकीले रंगों की सज-धज दिखाते हैं और कई खुशबू फुहारें उड़ाते हैं। फूलों के खिलने के अलग-अलग समय निर्धारित हैं। तेज आँधी-तूफान में फूल स्वयं अपने पट बंद कर लेते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि आँधी-तूफान में उनके सखा ये जंतु टिक नहीं सकेंगे। कीटों तथा पक्षियों की घ्राणेंद्रिय इतनी तीव्र होती है कि मीलों दूर से अपने पुष्प मित्रों का निमंत्रण पाकर प्रेम की डोर से खिंचे चले आते हैं। जिन पेड़ों पर कभी फूल नहीं आते, वे पक्षियों-कीटों के द्वारा अवहेलना के ही पात्र होते हैं।

'पाँपलर' ऐसा ही एक भाग्यहीन वृक्ष है, जिस पर किसी भी पक्षी को नाज नहीं है। इसमें वसंत में पत्ते तो नए आते हैं, पर फूल कभी नहीं आते। ऐसे वृक्ष एकाकी एवं मनहूस व्यक्ति की तरह अर्द्धविकसित रह जाते हैं। देने की वृत्ति के अभाव, असहयोग के कारण ही अपने प्रकृति परिवार के सदस्यों से उन्हें अवमानना का ही मुख देखना पड़ता है।

बुलबुल को गुलाब पर एवं कुपरी को अशोक वृक्ष पर ही बैठना अच्छा लगता है। दोनों को ही अपने सखाओं पर नाज है। वृक्ष पर बैठा पक्षी-परिवार देखने में तो सुंदर लगता है, उनका गाना चहकना प्रकृति में प्रसन्नता की लहर फैला देता है। ये पक्षीगण मात्र प्रकृति में सौंदर्य वृद्धि के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी पसंद के वृक्षों की वंश-वृद्धि हेतु भी मित्रता का सूत्र जोड़े हुए हैं। सूक्ष्म, अल्प जीवनकाल वाले परागकणों को कम से कम समय में मीलों दूर तक इसी जाति के अन्य पुष्पों तक पहुँचाने का कार्य ये पक्षीगण करते हैं। मधुमक्खियाँ 'क्रास पालिनेशन' की प्रक्रिया में विशेष कार्य करती हैं। वे सामान्यतया प्रति मिनट तीस फूलों से पराग लेती हैं और अपने पिछले पैरों से एक लाख तक परागकण चिपका लेती हैं।

बहुत से वृक्ष ऐसे हैं, जिनके फल जमीन पर गिरकर या बोये जाने पर मुश्किल से अंकुरित होते हैं। ये ही बीज जब पक्षी मित्र के उदर में प्रवेश कर लेते हैं तो बीट के साथ बाहर निकलने पर सहज ही अंकुरित हो जाते हैं। बीजों पर पक्षी के पेट में जो प्रतिक्रिया होती है, उससे उनकी उर्वरता में अत्यधिक वृद्धि होती देखी गई है। ऐसे बीजों से उत्पन्न वृक्ष पीपल, वट, नीम के रूप में कई बार ऐसे स्थानों पर पाये जाते हैं, जहाँ उनके उगने की कोई संभावना नहीं होती।

जीवजगत में कमेन्सल्स के रूप में कुछ खास किस्म के सूक्ष्म जीवाणु होते हैं। इनकी जीवन व्यवस्था भी 'जियो और जीने दो' की समाजवादी व्यवस्था का आदर्श उदाहरण है। इन्हें अपने विकास के साधनों का कुछ ज्ञान नहीं होता। इसीलिए अपने आप को जीवित

रखने एवं आजीविका के लिए इन्हें समाज के परिगणित, पिछड़े पददलित व्यक्तियों की तरह साधनों की आवश्यकता होती है। इसे दूसरे सहयोगी महत्त्वपूर्ण जीवाणु एमिनो एसिड का निर्माण कर पूरा करते हैं। ये एरोब्ज जीवाणु इस तथ्य का उद्‌घाटन करते हैं कि मनुष्य को अपने ही नहीं, दूसरों के विकास का भी ध्यान रखना चाहिए।

कुछ पौधों की जड़ों में अत्यंत सूक्ष्म बैक्टीरिया होते हैं। ये वायु मंडल के नाइट्रोजन साइकल से सीधे नाइट्रोजन खींचकर उसे नाइट्रेट के रूप में बदल देते हैं। इस परिवर्द्धित तत्त्व को पौधे आसानी से आत्मसात कर लेते हैं। रेंगने वाले केंचुए इसी तरह मिट्‌टी को निगलकर उसे शरीर के अंदर रासायनिक प्रक्रिया द्वारा विशिष्ट बनाकर मलद्वार से निकाल देते हैं जो बड़ी उपजाऊ हो जाती है।

प्रकृति जगत के ये अनेकानेक उदाहरण सहकारिता द्वारा एक-दूसरे के विकास के सिद्धांत का ही समर्थन करते हैं। पक्षी एवं वृक्षों का परस्पर अन्योन्याश्रय संबंध पृथ्वी के सूक्ष्मजीवी बैक्टीरिया का वातावरण संतुलन को बनाए रखने में योगदान, वृक्षों द्वारा वातावरण संशोधन एवं प्राणवायु की वृद्धि से मानव के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण- ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें इकोलॉजी विज्ञानी पृथ्वी पर जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। सह-अस्तित्व एवं परस्पर सहकार के ये ज्वलंत उदाहरण मानव को सामाजिक जीवन में भी इन्हीं गुणों को उतारने के लिए अभिप्रेरित करते हैं।

चाहे जनसमुदाय की बात हो, चाहे प्रकृतिगत जड़ समझे जाने वाले पदार्थों की, सबके मूल में एक ही तथ्य काम करता है। वह है संगठन और सहयोग। व्यक्तिगत विकास के साथ ही सामूहिक उत्कर्ष भी अनिवार्य है। इस प्रक्रिया को जितना अधिक अपनाया जा सकेगा मनुष्य के लिए स्थायी सुख-शांति, वांछनीय एवं सुखकर परिस्थितियों के आधार ढूँढ़े जा सकेंगे। विश्व परिवार की कल्पना की साकार

किया जा सकना तभी संभव है, जब प्रत्येक व्यक्ति के अंदर से एक-दूसरे के प्रति उदारता, आत्मीयता-सहकारिता के भाव उमड़ें, अपनी नहीं सबकी प्रगति की कामना जन्म लेने लगे।

सहकारिता का सिद्धांत सब जगह लागू होता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, जीव-जगत, पर्यावरण सभी इसी सिद्धांत पर कार्य करते हैं। संरक्षण और अनुशासन दो वे प्रमुख आधार हैं जो प्रगति की नीव खड़ी करते हैं।

शरीर पर जो चमड़ी की परत चढ़ी है, उसे संरक्षक कह सकते हैं। इससे भीतर की रक्त-मांस संपदा को अपने स्थान पर बने रहने की सुरक्षा मिलती है। हवा में उड़ती रहने वाली विषाक्तता त्वचा के आवरण से ही भीतर नहीं पहुँच पाती, अन्यथा धूलिकणों का सीधा प्रवेश रक्त-मांस तक जा पहुँचता और उस कोमल शरीर संपदा को देखते-देखते विषाक्त एवं रुग्ण बनाकर रख देता है। साथ ही यह भी आशंका बनी रहती है कि भीतर की वस्तु तनिक सा दबाव पड़ते ही बाहर निकलकर इधर-उधर छितराने लगती। त्वचा का संरक्षण ही है जो बहुमूल्य कायिक ढाँचे को सुसंचालित रखे रहता है।

अभिभावकों का संरक्षण न हो तो शिशुओं का निर्वाह एवं भरण-पोषण किस प्रकार संभव हो? अनुशासन सिखाए बिना वे सभ्यता और शिक्षा का लाभ कैसे ले सकें?

शासन देश का संरक्षण करता है और प्रजाजनों पर अनुशासन रखता है। नागरिकों को दुष्प्रवृत्तियों से रोकने और उपयुक्त क्रिया-कलाप अपनाने की प्रेरणा देना एवं व्यवस्था जुटाना शासन का काम है। यदि वह इतना न कर सके तो स्वयं नष्ट होगा और समूचे प्रजाजनों को ले डूबेगा। अनुशासन और संरक्षण की व्यवस्था बनी रहने से ही व्यक्ति और समाज को मर्यादा में रहने और प्रगति-पथ पर अग्रसर होने का सुअवसर मिलता है। इन दो तत्त्वों को हटा दिया जाए तो फिर उच्छृंखलता, अव्यवस्था, विग्रह और विनाश के दृश्य ही उपस्थित होंगे।

न केवल मनुष्यों पर वरन समूची सृष्टि व्यवस्था पर उन्हीं दो दबावों का आधिपत्य है। ब्रह्मांड के सभी ग्रहतारक इसी आधार पर गतिशील रहते और अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं। इसमें तनिक भी शिथिलता आने लगे तो वे अपनी कक्षाओं से भटककर जिधर-तिधर दौड़ने लगें, उन्हें परस्पर बाँधे रहने वाले अनुशासन आकर्षण समाप्त हो जाएँ। इस अराजकता में वे अपने अस्तित्व तक की रक्षा न कर सकेंगे। परस्पर टकराकर महाप्रलय का दृश्य उपस्थित करेंगे। ब्रह्मांड के सुसंचालन में अनेकानेक शक्तियाँ और व्यवस्थाएँ काम करती हैं। उन सबमें मूर्द्धन्य आधार दो ही हैं- संरक्षण और अनुशासन। इनकी स्थापना के उपरांत ही प्रगति एवं समृद्धि की अन्यान्य धाराओं का क्रियान्वित हो सकना संभव होता है।

अपनी पृथ्वी को ही लें। उसकी सत्ता और व्यवस्था के कण-कण में यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है। जिधर भी दृष्टि डाली जाए उधर ही क्षण-क्षण में उसी संचालन सूत्र का परिचय मिलता है। जीवधारियों की अपनी नीति मर्यादा है। जो उसे पालते हैं वे जीवित रहते और प्रगति करते हैं। जो व्यतिक्रम पर उतारू होते हैं, उच्छृंखलता बरतते हैं, वे स्वयं नष्ट होते हैं और संबद्ध प्राणियों तथा पदार्थों के लिए संकट उत्पन्न करते हैं। अणु-परमाणुओं से लेकर रासायनिक परिवर्तनों तक के मध्य में उसी व्यवस्था का आधिपत्य है। समूचा लोक व्यवहार इन्हीं सूत्रों पर आधारित है। शिथिलता एवं उच्छृंखलता उत्पन्न होते ही अनेकानेक समस्याएँ और विभीषिकाएँ सामने आ खड़ी होती हैं।

ये सारे उदाहरण सत्यापित करते हैं कि मनुष्य इस समूचे ब्रह्मांड परिकर में अकेला नहीं है। वह उसकी एक अभिन्न इकाई भर है। अपना विकास तभी संभव है, जब सबका सामूहिक रूप से विकास हो। इस दृष्टि को सदैव बनाए रखना सबके लिए अनिवार्य है।

❐

सहयोग-सहकार की वृत्ति का विस्तार अत्यंत अनिवार्य

व्यक्ति एवं समाज की प्रगति इस बात पर अवलंबित है कि उसमें सहयोग-सहकार की प्रवृत्तियाँ हों। ये जिस भी समाज में जितनी ही अधिक मात्रा में होंगी, वह उतना ही प्रगतिशील, सभ्य एवं सुसंस्कृत होगा। अलग दीखते हुए भी मनुष्य, समाज का अभिन्न अंग है। इस कारण उसकी प्रगति एवं अवगति भी समाज के साथ जुड़ी हुई है। वह जैसा भी सोचेगा एवं करेगा, उसका प्रभाव न केवल उसके ऊपर वरन समाज पर भी पड़ेगा। मात्र अपना स्वार्थ साधने की बात सोचते रहने से तो वह समाज का भारी अहित करता है। शारीरिक निर्वाह के लिए आवश्यक साधन जुटाए जाने चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ की मर्यादा सीमा यहीं तक है। इससे आगे की बात सोचने से सामाजिक हितों पर अतिक्रमण होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का चिंतन एवं क्रिया-कलाप मानवीय परिधि से निकलकर नर पशु की श्रेणी में जा पहुँचता है।

एकमात्र स्वार्थपरायण व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ऐसे-ऐसे अनुचित मार्गों का अवलंबन लेने लगता है, जिसे देख-सुनकर मनुष्यता का सिर लज्जा से नीचा हो जाता है। जब उचित-अनुचित का विचार छोड़कर कोई मनुष्य जैसे भी बने अपना स्वार्थ सिद्ध करने की नीति अपनाने लगता है, तब समाज की सुख-शांति में आग लगने लगती है। किसी एक व्यक्ति की देखा-देखी दूसरे व्यक्ति भी स्वार्थपरायण होकर उसकी अनुचित नीति का अनुसरण करने लगते हैं। धीरे-धीरे स्वार्थी व्यक्तियों की संख्या बढ़ने लगती है और कोई भी सभ्य समाज असभ्यता की ओर बढ़ने लगता है। समाज में छीना-झपटी, आपा-धापी, छल-कपट, शोषण-संघर्ष की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगती हैं जिसके परिणामस्वरूप समाज-विशृंखल, निर्बल और अरक्षित हो जाता है। दूसरे समुदाय ऐसे अवसर का लाभ उठाते हैं

और प्रयत्न करते हैं कि उस मूर्ख समाज को अपने अधीन कर लें, उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें।

इतिहास साक्षी है कि हमारे अपने समाज में जब-जब स्वार्थपरता का घातक विष फैला तब-तब इसी प्रकार दुर्दन देखने पड़े। स्वार्थी और दंभी लोगों ने अपनी भयंकर नीति से समाज में संघर्ष उत्पन्न किया, उसकी एकता और संगठन शक्ति को नष्ट किया। समाज निर्बल बना और उस पर आपत्तियों के पहाड़ टूटने लगे। विदेशियों ने समाज की इस निर्बलता से लाभ उठाकर ही हमारे देश को लूटा और उस पर अपनी सत्ता स्थापित की।

इस दीर्घजीवी आपत्ति का कारण समाज के वे थोड़े से स्वार्थी व्यक्ति ही तो थे, जिन्हें अपने व्यक्तिगत लाभ की अंधता में न तो देश का भविष्य दिखलाई दिया और न समाज का अमंगल। स्वार्थपरता का विष इतना भयानक होता है कि किसी भी क्षेत्र में उसका अस्तित्व संपूर्ण समाज को विषाक्त बनाकर जर्जर कर देता है।

पता नहीं स्वार्थांध व्यक्ति यह क्यों नहीं सोच पाते कि जब वे अपनी अनुचित रीति से समाज को निर्बल, विशृंखल और अव्यवस्थित बना देंगे तो उसकी सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी और तब उसके साथ ही उनका अस्तित्व भी सुरक्षित न रह पाएगा। कमजोर और असमर्थ समाज न अपनी ही सामूहिक रक्षा कर पाता है और न व्यक्ति की। अपने निम्न स्वार्थ के लिए समाज की इतनी बड़ी हानि करने वाले व्यक्ति को और कुछ भले ही कहा जाए, मनुष्य नहीं कहा जा सकता।

स्वार्थ से प्रेरित जब किसी एक दिशा में शोषण-चक्र चलता है, तब उसके कुत्सित प्रभाव से कोई भी दिशा नहीं बच पाती। बुराई एक संक्रामक रोग की तरह होती है। अंकुर पाते ही यह बरसाती वनस्पति की तरह फैलकर शीघ्र ही पूरे समाज को ग्रसित कर लिया करती है। सामूहिक भावना अथवा सामाजिक चेतना से शून्य होकर जब कोई स्वार्थी व्यक्ति किसी एक का शोषण करता है, तब वह शोषित व्यक्ति उसके बदले में अपने से कमजोर का शोषण करने लगता है और इस

प्रकार यह शोषण एक सामाजिक परंपरा बन जाती है। फलतः समाज के सदस्यों के बीच परस्पर विश्वास तथा सहयोग की भावना उठ जाती है।

उन्नति के इन स्तंभों के टूटते ही समाज खंडहर की तरह भर-भरा कर गिर पड़ता है। उसकी बहुमूल्य विचारधाराएँ, सुंदर संस्कृति और उज्ज्वल सभ्यता या तो नष्ट हो जाती है या संसार में उपहासास्पद बन जाती है। सामाजिक जीवन में स्वार्थ बड़ा घातक विष है। इससे सदैव ही समाज की रक्षा करते रहना चाहिए, अन्यथा वह स्वार्थी को तो मिटा ही देता है, समाज को भी कहीं का नहीं रखता।

स्वार्थ के दोष से बड़े-बड़े बलवानों और शक्तिमानों को धूल में मिलते देर नहीं लगी। कंस, जरासंध, हिरण्यकशिपु, हिरणाक्ष, नहुष, वेन आदि जाने कितने प्रतापी राजा बात की बात में नष्ट हो गए। इतना ही नहीं, स्वार्थ ने इस सीमा तक उनका पतन कर दिया कि वे मनुष्य शरीर में भी असुर और राक्षस बन गए। स्वार्थसिद्धि के लिए ऐसे-ऐसे जघन्य काम किए जिसके लिए आज तक जन-भर्त्सना के पात्र बने हुए हैं। लोभ और स्वार्थ सभी पापों की जड़ मानी गई है। इसका कुंचक्र जिस पर भी चलता है, वह सदा के लिए मिट जाता है, फिर चाहे वह व्यक्ति हो, समाज हो अथवा राष्ट्र।

जिस परमात्मा ने मनुष्य को जन्म दिया उसी ने उसके जीवन के साधन भी संसार में उत्पन्न किए। उसका इस निर्माण में कभी भी यह अन्यायपूर्ण मंतव्य नहीं रहा है कि कुछ व्यक्ति तो साधनों को प्रचुर मात्रा में बिना किसी आवश्यकता के अपने अधिकार में कर लें और अन्य बहुसंख्यक जीवनयापन की अनिवार्य वस्तुओं से भी वंचित रहें। परमात्मा को तो अपनी सभी संतानें समान रूप से प्रिय हैं। वह क्यों न चाहेगा कि जन-जन समान रूप से उसके दिए साधनों का उपभोग करे! किंतु खेद है कि समाज के स्वार्थी व्यक्ति प्रभु की इस मंगल इच्छा में भी विघ्न डालते हैं। यद्यपि वे अपने इस अपराध के लिए रोगों, दोषों, घोर संतापों, निंदा, भर्त्सना और

राजनियमों द्वारा दंडित होते रहते हैं, तथापि अपनी करनी से बाज नहीं आते।

स्वार्थी व्यक्ति मानवाकार में पशुवत होता है। उसका न तो कोई आदर्श होता है और न सिद्धांत। नैतिक गुणों से भी उसका जीवन शून्य होता है। जिस व्यक्ति से उसका स्वार्थ सिद्ध होने की आशा होती है, उसकी पगधूलि भी वह अपने सिर पर चढ़ा लेने में संकोच नहीं करता, फिर चाहे वह व्यक्ति कितना ही निकृष्ट तथा दुराचारी क्यों न हो! कोई भी बुरे से बुरा मार्ग स्वार्थी व्यक्ति अपने लाभ के लिए अपना सकता है, चाहे वह विशुद्ध पापमय ही क्यों न हो ! स्वार्थी में न केवल दीनता का ही दोष होता है उसमें छल-कपट, झूठ-फरेब, मक्कारी और विश्वासघात जैसे और भी न जाने कितने दोष होते हैं। स्वार्थी व्यक्ति अपने धर्म, देश, राष्ट्र और समाज तक को बेच डालने में संकोच नहीं करता।

स्वार्थवृत्ति एक जहरीले साँप की तरह होती है। यह जब अपना फन फैलाती है तो शत्रु-मित्र का विचार किए बिना समान रूप से सबको डस लेती है। एक स्वार्थवृत्ति से ही मनुष्य में न जाने और कितनी दूषित वृत्तियाँ आ जाती हैं। ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि के अनर्थकारी विकार एक स्वार्थ की ही संतति समझने चाहिए।

इतिहास के पर्यवेक्षण, अवलोकन करने पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि व्यक्ति की संकीर्ण स्वार्थपरता समाज के अधःपतन का कारण बनी है। स्वार्थों से अभिप्रेरित व्यक्तियों ने सामाजिक भावनाओं को बुरी तरह रौंदा और वह मार्ग अपनाया जिसे अमानवीय अथवा दानवी स्तर का कहा जा सकता है। लाभ अंततः उन्हें भी नहीं हुआ। सामाजिक प्रताड़ना एवं असंतोष को साथ लेकर मरे। स्वार्थपरता न उनके लिए लाभकारी सिद्ध हुई और न ही समाज के लिए।

जिसमें समाज का भी हित जुड़ा हो-मनुष्य को वह मार्ग अपनाना होगा। इसके लिए संकीर्ण स्वार्थों की परिधि से निकलकर

सहयोग एवं सहकार की प्रवृत्ति को अपनाने से ही व्यक्ति एवं समाज दोनों की प्रगति संभव है।

मानव जाति के विकास में सहयोग अथवा संघर्ष में से किसने अधिक योगदान दिया है, इसकी ढूँढ़-खोज करने पर निष्कर्ष सहयोग के पक्ष में ही जाते हैं। इतने पर भी संघर्ष की सर्वथा अनुपयोगिता नहीं सिद्ध की जा सकती। संघर्ष भी अपवाद के रूप में आवश्यक है। पर यह कभी-कभी चलने वाली प्रक्रिया है जो विशेष परिस्थितियों में उपयोगी एवं सहायक हो सकती है। चोर, डाकुओं, आततायियों की दुष्टता का दमन करने में संघर्ष की नीति ही सफल होती है। पर ऐसे अवसर तो कभी-कभी आते हैं, जब संघर्ष का मार्ग अपनाना आवश्यक हो जाता है। युद्धकालीन परिस्थितियाँ तो यदा-कदा ही आती हैं।

आदिम युग की पिछड़ी स्थिति से आज की सभ्य स्थिति में मानव जाति को पहुँचाने में सहयोग एवं सहकार की ही प्रमुख भूमिका रही है। जीवन संघर्षमय है। संसार में पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है, प्राय: इस सिद्धांत को समझने में भ्रम हो जाता है। यहाँ संघर्ष का अर्थ परिस्थितियों एवं स्वयं की मन:स्थिति के संघर्ष से है न कि व्यक्तियों के चलने वाले आपसी संघर्ष से है। अस्तु, संघर्ष को सामाजिक सुव्यवस्था एवं विनाश के अनिवार्य साधन के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। उसकी सीमित आवश्यकता एवं सीमित भूमिका होती है।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी विचारधारा का उदय ऐसी ही आपत्तिकालीन परिस्थितियों में हुआ जब मालिकों, पूँजीपतियों का शोषण एवं दमन का चक्र अपनी चरम सीमा पर था। ऐसे समय में विद्रोह का उठना स्वाभाविक था। समाज दो वर्गों में विभाजित था- एक शोषक पूँजीपतियों का वर्ग जिसके हाथों में सत्ता थी, उत्पादन के साधनों पर जिसका आधिपत्य था। दूसरा वर्ग था शोषितों का था। मजदूर, किसान, कर्मचारी इसी के अंतर्गत आते थे। शोषण एवं दमन की नीति के कारण दोनों वर्गों के बीच खाई बढ़ती गई। पूँजीपति और भी समृद्ध होते गए और मजदूर की श्रेणी में आने वालों की स्थिति

बदतर होती गई। ऐसी ही विषम परिस्थिति में आपत्ति धर्म के रूप में साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ जिसका लक्ष्य था–समता के आधार पर एक ऐसे वर्गहीन समाज की रचना करना जिसमें सबको समान न्याय एवं अधिकार मिले। लक्ष्य श्रेष्ठ होते हुए भी उसकी प्रगति के लिए साम्यवाद जिस हिंसक क्रांति का–वर्ग संघर्ष का समर्थन करता है, वह हर दृष्टि से अहितकर तथा मनुष्य एवं समाज के विकास में अवरोधक है।

संघर्ष–संघर्ष को ही जन्म देता है और इस शृंखला का कोई अंत नहीं होता। अतएव 'वर्गसंघर्ष' को वर्गहीन समाज की स्थापना में एक श्रेष्ठ सिद्धांत के रूप में नहीं अपनाया जा सकता। इतिहास साक्षी है कि अपवादों को छोड़कर संघर्ष द्वारा कोई स्थायी समाधान नहीं निकला। उलटे समाज में विघटन, विग्रह, मनोमालिन्य, ईर्ष्या एवं द्वेष का दौर चल पड़ता है। शोषण की प्रवृत्ति को जड़ से समाप्त करने के लिए आत्मनियंत्रण के वे वैचारिक आधार देने होंगे जिनसे अभिप्रेरित होकर मनुष्य स्वयं अपरिग्रह को मानवी धर्म के रूप में अपनाने के लिए बाध्य हो जाए।

यह मान्यता निराधार है कि मालिक, मजदूर के बीच, पूँजीपति और कर्मचारी के बीच परस्पर सहयोग–सहकार के आदान–प्रदान से समस्याओं का हल नहीं निकल सकता और इस नीति में अंततः मालिक ही नफे में रहता है। वास्तविकता की खोज–बीन की जाए तो निष्कर्ष यह निकलते हैं कि दोनों यदि एक–दूसरे की कठिनाइयों को समझ लें एवं सच्चे हमदरद की भाँति सहयोग की नीति अपना लें तो दोनों ही लाभ में रहते हैं और समाज की सुव्यवस्था भी बनी रहती है, सर्वतोमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। आवश्यकता इस दिशा में बस इतनी भर होती है कि दोनों ही अपने–अपने दायित्वों को समझें तथा उनके निर्वाह के लिए भरपूर प्रयत्न करें।

उत्पादन कार्यों का संचालन करने वाले उद्योगपतियों को उनके महान दायित्वों का बोध कराने के लिए मैन्चेस्टर के उद्योगपति राबर्ट ओविन का उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। स्कॉटलैंड के एक कसबे

न्यूलैनार्क में उसने एक कपास का कारखाना खरीदा। उन दिनों इंगलैंड में कारखाने तेजी से बढ़ रहे थे। अन्य मिल-मालिकों की भाँति अधिक से अधिक धन संग्रह करना उसका लक्ष्य न था। मजदूरों की दयनीय स्थिति के प्रति उसके हृदय में पीड़ा थी। न्यूलैनार्क कालोनी में मजदूरों के चौदह सौ परिवार थे जो गंदी बस्तियों में रहते थे। उनके उपार्जन का अधिकांश भाग मद्यपान एवं जुआ खेलने में व्यर्थ चला जाता था। ओविन ने कारखाने का चार्ज लेते ही यह निश्चय किया कि हमारा लक्ष्य मात्र उपार्जन नहीं है। रोग-शोक, पीड़ा एवं पतन के गर्त में पड़े किंतु उत्पादन के मेरुदंड मजदूर वर्ग की स्थिति न सुधारी गई तो नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से अपराध होगा। मजदूरों का कायाकल्प करने के लिए उन्होंने एक योजना बनाई। मिल की आय का बड़ा हिस्सा उसने मजदूरों के विकास के कार्यक्रमों के लिए निर्धारित किया। सस्ते दाम पर उपलब्ध होने वाले सामानों के लिए उसने सहकारी स्टोर खुलवाए। ऐसे मकानों का निर्माण कराया जिसमें प्रकाश एवं वायु की समुचित व्यवस्था हो। बच्चों की शिक्षा के लिए विद्यालय खोले गए। मद्यपान एवं जुआ, सट्टा पर पूर्ण पावंदी लगा दी गई। मजदूरों के सदाचार संबंधी रजिस्टर रखे गए। उनकी वेतनवृद्धि 'चरित्र रिकार्ड' के आधार पर होती थी। विविध अवसरों पर ऐसे चरित्रनिष्ठ मजदूरों, कर्मचारियों को पुरस्कृत भी किया जाता था। ओविन के इन प्रयासों का प्रतिफल यह हुआ कि मजदूरों की स्थिति दिन-प्रतिदिन सुधरने लगी। कितने ही व्यक्तियों ने ओविन को परामर्श दिया कि इस प्रयास में उसे भारी घाटा उठाना पड़ सकता है पर ओविन ने किसी की बात न मानी। सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि जैसे-जैसे मजदूरों की स्थिति सुधरी, उसी अनुपात में कारखाने का उत्पादन भी बढ़ता गया। अपनी चरित्रनिष्ठा एवं कर्मठता के लिए कारखाने के मजदूर पूरे यूरोप में प्रख्यात हुए। समाज सुधार के कार्यों में अभिरुचि रखने वाली कितनी सामाजिक संस्थाएँ 'न्यूलैनार्क' के मजदूर दल का अवलोकन करने के लिए आती रही और सबने एक स्वर से ओविन की दूरदर्शिता की प्रशंसा की।

यह परंपरा सहयोग एवं सहकार की स्वर्णिम परिणति है। एक की उदारता से दूसरे वर्ग की स्थिति सुधरी। दूसरे ने उस उदारता का प्रतिदान अपनी श्रमशीलता एवं कर्मठता के रूप में चुकाया। फलतः कारखाने के उत्पादन में भारी बढ़ोत्तरी हुई। यह अनुकरणीय उदाहरण अन्य उद्योगपति, मिल-मालिक अपनाने लगें तो इससे दोनों को ही लाभ होगा। दोनों के बीच बढ़ता हुआ मनोमालिन्य घटेगा तथा परस्पर सहयोग एवं सहकार का दौर चल पड़ेगा। विग्रह, विघटन एवं संघर्ष की परिस्थितियाँ न आने पाएँगी। अधिकारों की माँग को लेकर आए-दिन हड़तालों की शृंखला चलती तथा प्रतिवर्ष कितनी हानि उठानी पड़ती है, विश्वभर का लेखा-जोखा लेने पर यह पता चलता है कि मानवी श्रम का एक बड़ा भाग यों ही व्यर्थ चला गया। यदि उसकी रोकथाम की जा सकी होती तो भौतिक प्रगति में असामान्य योगदान मिल सकता था।

गलती दोनों ही ओर से होती है। मालिक की नीति अपना स्वार्थ साधने की अधिक और मजदूर, कर्मचारियों का दुःख-दरद समझने की कम रहती है। शोषण एवं दमन के कारण आक्रोश एवं विद्रोह की आग मजदूर के भीतर ही भीतर धधकती रहती है जो कभी-कभी हड़तालों के रूप में निकलती है। फलतः प्रतिवर्ष भारी क्षति उठानी पड़ती है। दोनों के बीच परस्पर सघन सहकार का क्रम चल पड़े तो आपत्तिकालीन परिस्थितियों में भी आपसी सद्भाव के कारण ऐसे समाधान निकल आते हैं जो एक-दूसरे के बीच मनोमालिन्य के रहते प्रायः असंभव ही होते हैं। दो दशकों पूर्व इंगलैंड में एक ऐसा ही भावभरा उदाहरण प्रस्तुत हुआ।

इंगलैंड के कारखाने में दो हजार व्यक्ति काम करते थे। कारखाने के मजदूर अपनी कर्मठता के लिए विख्यात थे। समकक्ष अन्य कारखानों की तुलना में इसका उत्पादन भी सर्वाधिक होता था। कुछ कारणों से अकस्मात मिल को भारी घाटा उठाना पड़ा और धीरे-धीरे कर्ज चढ़ने लगा। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि कर्ज चुकाने के लिए मिल के बेचने की नौबत आ गई। मैनेजर ने इस स्थिति से सभी कर्मचारियों को

अवगत कराने के लिए एक सूचना प्रसारित कराई कि कर्ज अधिक हो जाने के कारण मिल को बेचना होगा। कर्मचारियों में जितना पैसा मिल के ऊपर बाकी हो उसका हिसाब दे जाएँ ताकि मिल बेचकर कर्ज के साथ ही उनका भी भुगतान किया जा सके। मजदूरों एवं कर्मचारियों के लिए यह अप्रत्याशित घटना थी। जिसके माध्यम से अब तक रोजी-रोटी मिलती रही, वह आधार टूट जाएगा–यह सोचकर सभी चिंतित हुए। मजदूर यूनियन द्वारा एक मीटिंग बुलाई गई ताकि इस समस्या पर विचार विमर्श किया जा सके। यूनियन के मंत्री ने यह प्रस्ताव रखा कि क्या मिल के दो हजार कर्मचारी जिनको कारखाने से आजीविका मिलती रही है, इसे बिक्री से रोक नहीं सकते? विचार-मंथन के उपरांत निष्कर्ष निकला कि यदि हर कर्मचारी अपने प्रॉवीडेंट फंड की राशि उधार के रूप में मिल को कर्ज चुकाने के लिए दे दे तो प्रस्तुत समस्या का हल निकल सकता है। सबने इस प्रस्ताव को मानकर 'स्थायी निधि' की राशि मिल को देना स्वीकार कर लिया और अपने इस प्रतिवेदन से मैनेजर को अवगत कराया। इस भावभरी उदारता से कारखाना नीलाम होने से बच गया। कुछ ही वर्षों में मजदूरों की कर्मठता से मिल की स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार होता गया। अपनी सामान्य अवस्था में आते ही मिल के व्यवस्थापक ने अतिरिक्त बोनस राशि के साथ सभी कर्मचारियों के पैसे वापस लौटा दिए।

सहयोग की भावभरी उदारता का यह क्रम मालिक-मजदूर के बीच सर्वत्र चल पड़े तो इससे अंततः दोनों ही नफे में रहेंगे। उत्पादन बढ़ेगा। फलतः देश की प्रगति में योगदान मिलेगा। जबकि इसके विपरीत वर्गसंघर्ष के सिद्धांत को मानने एवं मान्यता देने से मनोमालिन्य और विग्रह बढ़ता ही जाएगा। अस्तु, संघर्ष को नहीं सहयोग एवं सद्व्यवहार के सिद्धांत को मान्यता देने और अपनाने से ही समस्त समाज की प्रगति एवं समृद्धि संभव है।

व्यक्तिगत स्तर पर सेवा साधना की आवश्यकता और उपयोगिता सभी समझते हैं। यह भी जानते हैं कि इससे क्या भौतिक, क्या आत्मिक और क्या सामाजिक विकास सहजता से होने लगता है। इस दृष्टि से

सेवा के महत्त्व को लगभग सभी स्वीकार करते हैं और कभी-कभी यह मार्ग अपनाने की उमंग भी उठती है। फिर भी प्राय: लोगों के मन में यह उमंग बिजली की चमक के समान उत्पन्न होती है और लुप्त हो जाती है। इसका क्या कारण है? इस पर विचार किया जाना चाहिए।

बिजली की चमक के समान सेवा की उमंग उठने और इसी तरह लुप्त हो जाने का प्रमुख कारण यह है कि इसके प्रति आवश्यक निष्ठा और उत्साह का जागरण नहीं हो पाता। यही कारण है कि थोड़े-बहुत लोग जो सेवा मार्ग पर कदम रखते हैं, थोड़े से पग बढ़ाते हैं किंतु थोड़ी सी कठिनाइयाँ आती देखकर वापस लौट आते हैं। सोचने लगते हैं कि यह तो व्यर्थ का झमेला है, इसमें क्यों माथापच्ची की जाए। जिनमें इससे आगे तक निष्ठा और उत्साह विद्यमान रहता है, वे थोड़ा आगे चलकर जरा सी और कठिनाइयों को देखकर चुप बैठ जाते हैं।

असफलता, कठिनाइयाँ, बाधाएँ और भी कई कारण ऐसे हो सकते हैं, जिनकी वजह से सेवापथ पर अधिक गति के साथ नहीं बढ़ा जा सकता। उनमें प्रमुख कारण यही है कि सेवा के प्रति निष्ठा नहीं होती। प्रश्न उठता है कि सेवा के प्रति निष्ठा नहीं होती तो लोग उस दिशा में अग्रसर ही क्यों होते और क्यों सेवा धर्म अपनाने की बात सोचते हैं? बात ठीक भी है। सवाल निष्ठा या रुचि का नहीं, निष्ठा और रुचि की प्रखरता का है। यदि सेवा धर्म के प्रति अपनी निष्ठा प्रखर हो तो हजार असफलताएँ और लाख बाधाएँ आने पर भी उससे विरत नहीं हुआ जा सकता। अन्यथा ऐसा कौन सा कार्य है जिसमें सदैव अनुकूल और अपेक्षित परिणाम ही प्राप्त होते हों।

प्रत्येक कार्य के वही परिणाम आएँ जो हम चाहें, ऐसा न तो हमेशा संभव है और न ही कभी संभव है। हालांकि कोई व्यक्ति यह सोचकर काम शुरू नहीं करता कि असफलता मिलेगी। सफलता प्राप्त करने के लिए सभी व्यक्ति प्रयत्न करते हैं फिर भी असफलता की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता और न ही इस संभावना के कारण कोई अपना काम रोक देता है। विद्यार्थी जानता है कि मैं फेल

भी हो सकता हूँ, व्यापारी के लिए भी घाटा होने की संभावना हर घड़ी मौजूद रहती है लेकिन इस कारण विद्यार्थी पढ़ना या परीक्षा देना नहीं छोड़ देता और न ही घाटे के डर से व्यापारी व्यापार करना छोड़ देता है। सफलता की और असफलता की दोनों ही संभावनाएँ प्रत्येक कार्य के साथ जुड़ी होती हैं, इसे सब जानते हैं और यह भी जानते हैं कि आरंभ में किया गया कार्य निर्विवाद संपन्न हो जाए, यह कोई आवश्यक नहीं है। फिर भी असफलता या कठिनाइयों के डर से कोई निर्णय निश्चेष्ट नहीं हो जाता।

जब सामान्य कार्य ही असफलता की संभावना को देखते हुए रोके नहीं जाते तो सेवा साधना जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य क्यों छोड़ दिया जाता है? स्पष्ट ही इसका कारण निष्ठा और आस्था का अभाव अथवा उथलापन कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त जब लोकसेवा को ही अपना धर्म कर्तव्य मान लिया जाए तो असफलता की संभावना से और भी नहीं हिचकना चाहिए। लोकसेवी का दृष्टिकोण जन सामान्य से ऊँचा रहना चाहिए। इसी प्रकार इसके आदर्श और संकल्प भी उच्च तथा प्रखर होने चाहिए। उसे तो सफलता-असफलता की चिंता किए बिना ही अपने कर्त्तव्य पथ पर, सेवा मार्ग पर चुपचाप चलते रहना चाहिए। इस संबंध में भगवान बुद्ध और उनके शिष्य का एक प्रसंग बड़ा ही प्रेरणादायक है। भगवान बुद्ध ने अपने एक शिष्य से पूछा, "तुम धर्म प्रचार के लिए जा रहे हो, अगर लोगों ने तुम्हारी बातें नहीं सुनीं तो?"

शिष्य ने कहा, "मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने भले ही मेरी बातें न सुनी हों पर मुझे गालियाँ तो नहीं दीं।" बुद्ध ने आगे पूछा, "अगर वे तुम्हें गालियाँ देने लगें तो ?" तब शिष्य ने कहा, "मैं फिर भी उनका कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने मुझे मारा नहीं।"

"मान लो अगर वे तुम्हारे साथ मारपीट भी करने लगें तो?" बुद्ध अपने शिष्य की निष्ठा को अच्छी तरह परख लेना चाहते थे। शिष्य की निष्ठा भी अधकचरी नहीं थी। उसने कहा, "भगवन ! उस

स्थिति में भी मैं उनका आभार मानूँगा कि उन्होंने मेरे साथ केवल मारपीट ही की। मुझे जान से नहीं मारा।''

इसके बाद बुद्ध ने पूछा, ''और यदि जान से ही मार डालें तो ऐसी स्थिति में तुम्हारी आत्मा क्या कहेगी?''

''मेरी आत्मा उन्हें धन्यवाद देगी भंते !'' शिष्य ने कहा, ''क्योंकि तब भी वे मेरा उपकार ही करेंगे कि उन्होंने मुझे इस दुःखमय संसार से त्राण दिला दिया।'' इस स्तर की निष्ठा का विकास ही सेवाधर्म को पूर्णतः अंगीकार करने में सक्षम और सफल बनाता है। प्राचीनकाल से अब तक के इतिहास में जितने भी लोकसेवी हुए हैं, उन्होंने अपनी निष्ठा को परिपक्व बनाया, उसे शान पर चढ़ाकर चमकाया और प्रखर बनाया है। यद्यपि जो भी लोग सेवाक्षेत्र में आते हैं उनमें थोड़ी-बहुत निष्ठा तो होती ही है, लेकिन केवल निष्ठा का होना ही आवश्यक नहीं है, इससे भी ज्यादा उसका प्रखर बनाना आवश्यक है।

लोकसेवियों में निष्ठा का सर्वथा अभाव रहता हो, ऐसी बात भी नहीं है। यदि उनमें निष्ठा न रही होती तो वे सेवा के क्षेत्र में आते ही क्यों? किंतु निष्ठा जब दुर्बल होती है तो व्यक्ति सेवाधर्म को कष्टसाध्य या दुस्साहस समझकर बीच में ही छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए प्रारंभिक असफलताओं को ही लें। बहुत से लोग प्रारंभिक असफलताओं के कारण सेवाधर्म से विमुख हो जाते हैं जबकि यही असफलताएँ यदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में आएँ तो उनकी कार्यविधि में कोई अंतर नहीं आता और न वे रुकते ही हैं। फिर सेवा साधना में मिलने वाली असफलताओं से ही असंतोष क्यों? यदि कार्य को ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया जाए और सफलता-असफलता की चिंता न की जाए तो सेवा मार्ग पर बिना किसी अवरोध के, बिना कहीं रुके-झुके चला जा सकता है।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि कार्य चाहे जो भी हो उसके दो ही परिणाम हो सकते हैं-सफलता या असफलता। और जब किन्हीं उच्च प्रयोजनों के लिए काम किया जा रहा हो तब तो सफलता की अपेक्षा आरंभ में असफलताएँ ही ज्यादा हाथ लगती हैं। महापुरुषों को

अपने जीवनकाल में कदाचित ही आशाजनक सफलताएँ मिल सकी हों। महात्मा ईसा ने ४० वर्ष तक धर्म का प्रचार किया और इस पूरे समय में उनके केवल २ शिष्य बने। वे भी इतने कच्चे कि उनमें से एक ने तो दुश्मनों से मिलकर उन्हें पकड़वा दिया और बाकी के लोग भी ईसा पर आई इस विपत्ति के समय उनका साथ छोड़ गए। सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा, महावीर स्वामी के कानों में कीलें ठोंकी गईं और उन्हें चोर समझा गया, बाल्टेयर को तो मरते समय भी उपेक्षा सहनी पड़ी और यहाँ तक कि मरने के बाद उनका विधिवत संस्कार भी नहीं करने दिया गया। इस तरह के जितने भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने संसार की कुछ उल्लेखनीय सेवाएँ की हैं, उन्हें अपने जीवनकाल में कदाचित ही सफलता मिली हो, पर वे हताश न हुए और न निराश। कारण अपने कार्य के प्रति, अपने लक्ष्य के प्रति उनमें इतनी प्रगाढ़ निष्ठा थी कि असफलता, प्रतिकूल परिणाम और घनघोर विरोध भी उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सका।

ऐसा भी नहीं है कि उनके किए गए प्रयास व्यर्थ गए हों। उनके चमत्कारी परिणाम इतने प्रभावशाली रहे हैं कि सारा विश्व, समूचा मानव समाज उनके सामने नतमस्तक हो गया। ईसा के सूली पर चढ़ाए जाने के ३०० वर्ष बाद उनका धर्म सारी दुनिया में फैलने लगा। सुकरात ने जो बीज बोए उसने सत्य के प्रति एक ऐसी दृष्टि विचारशील व्यक्तियों को दी जो पूर्वाग्रहों और पूर्व मान्यताओं के स्थान पर विवेक को महत्त्व देने लगी। इस प्रकार लोकसेवा का, उच्च उद्देश्यों के लिए त्याग और बलिदान का तत्काल कोई परिणाम भले ही देखने में नहीं आता हो, लेकिन वे प्रयास सामान्य प्रयासों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली और व्यापक परिणाम प्रस्तुत करने वाले होते हैं।

यह एक सामाजिक एवं सुविदित तथ्य है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु भी मनुष्य को समाज पर ही अवलंबित रहना होगा एवं जिस समाज पर उसका जीवनक्रम पूर्ण-रूपेण निर्भर है वह सहकार प्रेरित सेवाधर्म की नींव पर ही खड़ा है।

एक-एक ईंट मिलाकर पूरा भवन बनता है। मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं, न उसकी भावी प्रगति एकाकी रहने से संभव है। मानवीय समाज परस्पर स्नेह, सहयोग, सद्भावना जैसे सद्गुणों पर आधारित है। सुव्यवस्थित समाज के मूल में इसी गुण को कार्यरत देखा जा सकता है। जहाँ लोगों में न तो परस्पर सहयोग है और न स्नेह, न सद्भावना है और न सद्विचार, वहाँ नित्य प्रति कलह, ईर्ष्या-द्वेष, मार-काट, अशांति से भरा वातावरण होता है। इस वातावरण में न तो जीवन की सुरक्षा हो पाती है और न विकास। उलटे व्यक्तित्व में अवांछनीय तत्त्व प्रविष्ट होकर विकास की जड़ों को छिन्न-विच्छिन्न कर देते हैं। इसके विपरीत सहयोग और सहकारिता भरे वातावरण में भय, आशंका, आतंक आदि के लिए स्थान ही नहीं बचता। सभी प्रसन्नता से रहते और निश्चिन्तता से जीवनयापन करते हैं।

इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ सहयोगपूर्ण विकासक्रम के प्रमाण प्रस्तुत करता है। मानवीय संस्कृति और सभ्यता को आदिकालीन पाषाण युग से वर्तमान में उन्नति के उच्चशिखर पर पहुँचाने का श्रेय परस्पर सहकारिता और सौजन्यपूर्ण सद्व्यवहार को ही है। प्रस्तुत समाज-व्यवस्था, कल-कारखाने, शासनतंत्र, कृषि, व्यवसाय, वैज्ञानिक-आविष्कार इत्यादि सभी अद्यावधि उपलब्ध प्रगति-संपदा इसी के सुपरिणाम हैं।

परस्पर मिल-जुल कर रहने, खाने-खेलने, द्वेष न करने, किसी का भी बुरा न चाहने आदि विधि-निषेधों का पग-पग पर निर्देश देने वाले शास्त्रवचनों की दूरदर्शिता देखते ही बनती है-

सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

-ऋग्वेद १०/१९१/२

हे मनुष्य! तुम मिल-जुलकर रहो, मिल-जुलकर वार्त्तालाप करो, तुम सबके मन में एक जैसे संकल्प-विकल्प हों। देवतागण इन्हीं गुणों के आधार पर पूजनीय और उपासनीय बने हुए हैं।

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मंत्र मभि मंत्रये वः समानेन वोह विषाजुहोमि॥

–ऋग्वेद १०/१९/१/३

तुम सबके विचार समान हों, तुम्हारी सभा एक हो, तुम्हारे अंतःकरण एक हों, सभी के चित्त (हृदय) एक जैसे हों। मैं (परमेश्वर) तुम्हारे लिए एक से मंत्र, वेद ज्ञान तथा एक समान आवश्यक वस्तु प्रदान करता हूँ।

'सहजीविलाँ' का सिद्धांत पारस्परिक स्नेह–सद्भावना पर ही आधारित है। 'जियो और जीने दो'–उसका आदर्श है। श्रुतियाँ इसी का प्रतिपादन करती हैं–

सम्प्रच्यध्वमुप सम्प्रयात। *–यजुर्वेद १५/५३*

हे मनुष्यो! सभी लोग मिल–जुलकर (आत्मोत्कर्ष एवं सत्प्रयोजनों के लिए) प्रस्थान करो।

सं जीवास्थ। *–अथर्ववेद १९/६९/३*

एक साथ अर्थात मिल–जुलकर जियो।

पुमान्पुनागूंग सं परिपातु विश्वतः।

–यजुर्वेद २९/१

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा करे।

आत्मिक प्रगति और सामाजिक समृद्धि के मूल में कार्यरत इस सहयोग, स्नेह और सद्भावना को सर्वत्र देखा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि विकास के इस मूल मंत्र को समझकर जीवन की प्रत्येक गतिविधि में इसे प्रमुखता दी जाए। जीवन में सुख–सुविधा के साधनों से लेकर शांति और सुव्यवस्था तक का समावेश हो पाना इसी साधना द्वारा संभव हो सकेगा। सामाजिक उन्नति और प्रगति का लक्ष्य इन्हीं माध्यमों से प्राप्त हो सकेगा। इसी से स्वर्गीय वातावरण का सृजन हो सकेगा।

❐

अनुदारता मिटेगी तो सभी समस्याएँ स्वतः हल होंगी

इन दिनों व्यक्ति और समाज के सामने प्रस्तुत अगणित समस्याओं और भयावह विभीषिकाओं के संबंध में विचार करते हुए आश्चर्य होता है कि पदार्थ समुच्चय और प्राणि समुदाय जब हिल-मिलकर सहयोगपूर्वक रहते हैं, तब एक-दूसरे के पूरक बनने की सृष्टि व्यवस्था का व्यतिरेक क्यों हो रहा है? इसका मूलभूत कारण क्या है?

खोजने पर पता चलता है कि नीति नियमों की मर्यादा का उल्लंघन ही व्यक्ति के निजी जीवन में अनेकानेक आधि-व्याधियों, क्लेश-कलहों, विक्षोभ-विद्रोह, अभाव-अतिक्रमणों का निमित्त कारण बना हुआ है। असंयम शरीर का, असंतुलन मस्तिष्क का, आलस्य उत्कर्ष का, अपव्यय समृद्धि का, अनाचार सहयोग का मार्ग अवरुद्ध करता है। संकटों की उत्पत्ति इसी प्रकार होती है। सड़ी कीचड़ में मक्खी, मच्छर, कृमि-कीटक एवं विषाणु उत्पन्न होते हैं। इनसे एक-एक करके अलग-अलग निपटना कठिन है। नाली की कीचड़ साफ कर डालने से ही वे सभी उपद्रव शांत होते हैं जो अलग-अलग आकार-प्रकार में भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट देते हैं। पेट का अपच अधिकांश रोगों का उद्‌गम केंद्र है। रक्त दूषित होने पर अनेक नाम रूप वाले चर्म रोग, रक्त दोष उत्पन्न होते हैं। यदि निपटना ही हो तो विषवृक्ष की जड़ काटनी चाहिए। टहनियाँ काटने से तो फिर नई कोंपलें फूटेंगी और स्थिति कुछ ही समय बाद फिर वैसी ही बन जाएगी।

पौराणिक रक्तबीज असुर का रक्त जहाँ भी गिरता था, हर बूँद से एक नया दैत्य उपज पड़ता था। सहस्रबाहु के बारे में कहा जाता है कि उसकी एक भुजा कटने पर दूसरी उसी स्थान पर तत्काल उग आती थी। प्रस्तुत समस्याओं के संबंध में भी यही बात है। न व्यक्ति के लिए अपनी उलझनें सुलझा सकना शक्य हो रहा है और न सामूहिक

समस्याओं के, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के कोई हल निकल रहे हैं। प्राय: राजनीतिक आधार पर ही हल खोजे जाते हैं। सुविधाएँ बढ़ाने या दबाने दंड देने की कूटनीति ही हर समस्या के समाधान में चित्र-विचित्र तरीकों से प्रयुक्त होती रहती है। फलत: कभी-कभी तात्कालिक हल ही निकलते से लगते हैं, किंतु आकर्षण या दबाव घटते ही फिर सारी परिस्थितियाँ ज्यों की त्यों हो जाती हैं।

व्यक्ति के सामने अस्वस्थता, दरिद्रता, परिवार-कलह, असंतोष, आशंका, छल, आक्रमण जैसी चिंताएँ ही सिर पर चढ़ी रहती हैं और नारकीय स्तर का खिन्न, उद्विग्न वातावरण बनाए रहती हैं। भारतीय समाज में मँहगाई, चोर बाजारी, हरामखोरी, रिश्वतखोरी, धोखाधड़ी, कुरीतियाँ, मूढ़ताएँ, गुंडागर्दी जैसे कारणों से जनजीवन दुष्कर हो रहा है। हर क्षेत्र में नेता लोग अपनी वरिष्ठता सिद्ध करने के लिए कुछ न कुछ सही-गलत उपद्रव खड़े करते-कराते रहते हैं। वर्ग विद्वेष उभारने में उन्हीं के कुचक्र-षडयंत्र कार्यान्वित होते रहते हैं। साहित्यकार, कलाकार, संपत्तिवान, बुद्धिजीवी, प्रतिभाशाली लोग किसी भी समाज के हृदय, मस्तिष्क माने जाते हैं। उनके हाथ की सामर्थ्य यदि विष व्यवसाय से बचकर अपनी क्षमता आदर्शवादी उत्कर्ष में लगा सके तो बिना किसी शासकीय सहायता के मात्र जन सहयोग से ही सृजन का इतना बड़ा काम हो सकता है कि समूचे समाज को स्वल्प साधनों से भी उत्कर्ष के उच्च शिखर पर पहुँचाया जा सके, किंतु देखा ठीक विपरीत जा रहा है। प्रतिभाएँ अपने साधनों समेत पतन-पराभव की खाई इसलिए खोदने में लगी हुई हैं कि उनका वैभव काम चलाऊ न रहकर कुबेर-सिकंदर के समतुल्य बन सके। यही रीति-नीति है जिसे बड़ों की देखा-देखी छोटे भी अपना रहे हैं और शिक्षित-अशिक्षित, धनी-दरिद्र सभी अनाचारी घुड़दौड़ में एक-दूसरे से आगे निकलने की बाजी वद रहे हैं।

संकटों और विग्रहों के मूल में साधनों की कमी कारण लगती है, पर वस्तुत: व्यक्तियों का पिछड़ापन एवं निकृष्टता से सना हुआ दृष्टिकोण ही आधारभूत कारण है। उसी ने श्रम साधन और बुद्धि-

वैभव को हेय प्रयोजनों के साथ जोड़ा है। फलतः विषबीज बोने पर अमृतफल पाने का स्वप्न कहीं भी साकार नहीं हो रहा। अशिक्षा, गरीबी, बीमारी, बेकारी आदि की आदतें जितनी जल्दी दूर की जा सकें उतना ही अच्छा। इन्हें भगाने के लिए जितना योजनाबद्ध पुरुषार्थ बन सके उतना ही उत्तम, किंतु साथ ही एक बात और भी नोट करके रखी जानी चाहिए कि इन चारों का निराकरण कर देने पर भी व्यक्ति या समाज के सुखी-समुन्नत होने की आशा नहीं की जा सकती। फ्रांस, अमेरिका जैसे समृद्ध देशों का उदाहरण सामने है। वहाँ साधनों की प्रचुरता रहते हुए भी कुत्साएँ और कुंठाएँ पिछड़े देशों की तुलना में कम नहीं अधिक ही हैं। इसके विपरीत जापान, इजराइल जैसे छोटे देश अपनी नैतिक विशिष्टता के कारण स्वल्प साधनों से ही समुन्नत जीवन जी रहे हैं। अस्तु, साधनों की बहुलता को महत्त्व देते हुए भी यह भुलाया नहीं जाना चाहिए कि अंततः मनुष्य का व्यक्तित्व ही उपार्जन और उपभोग का आधारभूत कारण है। यदि उस केंद्र में पिछड़ापन घुसा बैठा रहा तो भ्रष्ट चिंतन एवं दुष्ट आचरण के नजारे दीखते रहेंगे और सामर्थ्य का अवांछनीय प्रयोजनों में उपयोग होने से अनेकानेक संकट उत्पन्न होते रहेंगे। पानी का स्रोत रुके नहीं तो मेड़ बाँधने से क्या काम चलेगा? एक जगह रोकने पर दूसरी जगह फूटेगा। एक समस्या सुलझ न पाए और दूसरी उठ खड़ी हो तो समझना चाहिए कि फोड़ा नासूर हो गया और सूजन के भीतर केंसर जड़ पकड़ गया।

व्यक्ति, समाज और विश्व के सम्मुख उपस्थित छोटी-बड़ी अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का आधारभूत कारण एक है-मानव-मानव में विग्रह, सहयोग का अभाव तथा चेतना का पथभ्रष्ट होना। दृष्टिकोण के दूषित होने से हेय स्तर की ललक लिप्साएँ उभरती हैं और उनकी पूर्ति के लिए संकीर्ण स्वार्थ-परता, निष्ठुर अनुदारता एवं अनीति आक्रामकता के तौर-तरीके अख्तियार करने पड़ते हैं। अनीति भरे स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सताना ही होगा। छद्म छुपा नहीं रहता फिर आक्रमण का घाव तो बनेगा ही। घृणा, विक्षोभ से लेकर विग्रह जैसी अनेकों कष्टकारक,

दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और प्रतिशोधों का सिलसिला ऐसा चल पड़ता है जिसका कहीं अंत नहीं। अनाचारी पहले आक्रमण में ही कुछ कमा लेता है। इसके बाद तो चिरकाल तक अविश्वास, असहयोग और प्रतिशोध ही समय-समय पर उभरते हैं। ऐसे वातावरण में किसी को स्नेह, सद्भाव और सहयोग का प्रगति एवं प्रसन्नता के लिए नितांत आवश्यक वातावरण तो मिलेगा ही कैसे ? आशंका और आत्मरक्षा के लिए ही मन सदा भयभीत-आतंकित बना रहेगा। यही है वह विश्लेषण-पर्यवेक्षण जिसे आज व्यष्टि और समष्टि के सामने प्रस्तुत असंख्य समस्याओं का एकमात्र कारण कहा जा सकता है।

यदि संकीर्ण स्वार्थपरता के स्थान पर उदार आत्मीयता की प्रतिष्ठापना की जा सके तो इतने भर से व्यक्ति और समाज की अनेकानेक समस्याओं का समाधान निकल आएगा। इसका शुभारंभ अपने से ही किया जाए। योग्यता बढ़ाते चलने, काम में श्रम और मनोयोग जोड़े रहने, प्रामाणिकता सिद्ध करते रहने, आमदनी से खरच घटाकर रखने जैसे मोटे-मोटे अर्थ सिद्धांत अपना लिए जाएँ और विलासी ठाठ-बाट से, कुरीतियों के जंजाल से, बड़े लोगों का अंधानुकरण करने से बचते हुए सादा जीवन-उच्च विचार की नीति अपनाई जा सके तो कम आमदनी वाले व्यक्ति भी सुखी-संतुष्ट जीवन जी सकते हैं।

परिवार की संख्या वृद्धि और प्रसन्न करने के लिए कुछ भी करते रहने की प्रवृत्ति निश्चित रूप से भारभूत सिद्ध होती है। धनी और निर्धन दोनों ही इस मोहग्रस्तता से अपना और परिवार का अहित करते हैं। होना यह चाहिए कि जिन परिजनों की जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर हैं, उन्हें प्रसन्न, संपन्न ही नहीं, सुसंस्कृत, स्वावलंबी सद्गुणी भी बनाने का प्रयत्न किया जाए। एक आँख दुलार की दूसरी सुधार की रखी जाए। पारिवारिकता एक आध्यात्मिक गुण है जिसका अभ्यास घर-कुटुंब में किया जाता है और व्यवहार समूचे प्राणि जगत के लिए। यह सभी निर्धारण विशुद्ध आध्यात्मिक हैं जिन्हें अपनाकर कोई भी व्यक्ति शरीर को स्वस्थ, मन को प्रफुल्ल, धन को संतोषजनक, परिवार को सुविकसित उद्यान की तरह मनोरम, शांतिदायक देख सकता है। सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, आध्यात्मिक क्षेत्र भी दैनिक जीवन के

साथ जुड़े हुए हैं। यदि दृष्टिकोण में आध्यात्मिकता का समावेश रहे तो जीवन की सभी दिशाधाराएँ हरी-भरी, फल-फूलों से लदी हुई, उत्साहवर्द्धक, संतोषजनक एक आनंददायक बनकर रहेंगी। परिस्थितियाँ मनचाही न होने पर भी मनःस्थिति की उत्कृष्टता अपनाकर व्यक्ति सदा-सर्वदा हँसता-हँसाता, उठता-उठाता दृष्टिगोचर हो सकता है। अध्यात्म नकद धर्म है। इसे अपनाकर इस हाथ दे उस हाथ ले का अनुभव विश्वासपूर्वक किया जा सकता है।

सामाजिक, राष्ट्रीय स्तर की व्यापक समस्याएँ भी नैतिक दृष्टि से धूमिल होने और निकृष्टता की मात्रा बढ़ जाने के कारण ही उत्पन्न होती हैं। आत्मीयता, उदारता, सहकारिता, सद्भावना की उदात्त दृष्टि रखी जा सके, अधिकार की तुलना में कर्त्तव्य को प्राथमिकता मिल सके, मिल बाँटकर खाने की आदत पड़ सके तो कोई कारण नहीं कि राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय समस्याओं की जटिलता चुटकी बजाते हल न हो सके। मनुष्यों की अनुदारता की तरह राष्ट्रों की संकीर्णता ही दूसरों की उपेक्षा करके अपना विलास बढ़ाने में लगेगी तो विग्रह एवं संघर्ष को जन्म देगी ही। इन उलझनों को न कूटनीतिक चतुरता सुलझा सकती है और न प्रलोभनों-आदतों का माहौल ही चिर-स्थायी समाधान प्रस्तुत कर सकता है। विश्वसंकट के विभिन्न नाम रूपों के पीछे संकीर्ण स्वार्थपरता की असुरता ही डरावने कुचक्र रचती रहती है। आत्मिकी द्वारा अनुप्राणित दृष्टिकोण को व्यापक बनाने जन-जन के मन-मन में उतारने का एक काम संपन्न किया जा सके तो समस्त संसार को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि चिरकाल से उलझी हुई समस्त समस्याओं का स्थायी समाधान निकल आया।

संयुक्त रूप से सत्प्रयत्न किए जाएँ तो कितने लाभकारी परिणाम मिल सकते हैं, इसके अगणित उदाहरण देखे जा सकते हैं। किसी भी राष्ट्र के नागरिकों का स्वास्थ्य, संपन्नता, समर्थता, सौहार्द्र एक ही तथ्य पर निर्भर करता है-प्रयास सामूहिक स्तर पर चले कि नहीं। संकीर्ण स्वार्थपरता ही गिराती है एवं उदार आत्मीयता उठाती है। प्रकृति जगत में भी सद्भाव संपन्न सहकारिता का उदाहरण हिमालय सुता गंगा के रूप में स्पष्ट देखा जा सकता है। गंगा जब गोमुख से

निकलती है, तब उसका स्वरूप बहुत छोटा होता है। उद्‌गम से प्रकट होने वाला उपहासास्पद निर्झर जब अग्रगामी होता है तो लगता है उसकी पतली सी जलधारा सूखी धरती द्वारा बहुत आगे तक न चलने दी जाएगी और उसकी स्वल्प संपदा को कुछ ही मील का भूभाग आत्मसात कर लेगा। हवा के झोंके उस छोटी सी जलराशि को सुखा देने में देर न लगने देंगे। उद्‌गम पर खड़ा व्यक्ति ऐसे ही अनुमान लगा सकता है। उद्‌भूत जल-प्रवाह का छोटा सा अस्तित्व किसी बड़ी संभावना का आश्वासन नहीं देता।

वस्तुस्थिति में भारी परिवर्तन होता है। निर्झर उदारचेता बनते हैं। महान उद्‌देश्य के लिए समवेत होने की देव परंपरा स्वीकार करते हैं और अपने नाम रूप का-पृथक के मोह का विसर्जन करके पुण्य प्रयोजन के लिए संयुक्त प्रयत्न करने की बात अपनाते हैं। हिम-प्रदेश के अनेकानेक निर्झरों की संघबद्ध प्रक्रिया अग्रगामी बनती है तो विशाल कलेवर धारण करती है। गंगा क्रमशः थोड़ी गहरी और गतिगामिनी बनती है। समर्पण और समन्वय-यही है वह तत्त्वज्ञान जिसके आधार पर महान प्रयोजन सधते हैं। आशंका व्यर्थ सिद्ध होती है। उस जलधारा को न भूमि सोख पाती है और न हवा को सुखाने में सफलता मिलती है। यद्यपि दोनों की चुनौती और चेष्टा में कोई कमी नहीं आती। उनका वश चलता तो उस नन्ही सी जलधारा का अस्तित्व देर तक, दूर तक ठहर ही न पाता। एक तीसरी चुनौती और भी है। यदि हिमपुत्रों की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा अपना अलग अस्तित्व बनाए रहने, स्वयं संपन्न रहने और यशस्वी होने के लिए मचलती तो अवरोध निश्चित था। संकीर्ण-स्वार्थपरता, व्यक्तिवादी अहंमन्यता उन्हें समन्वित न होने देती। हर निर्झर अपने निजी वैभव की बात सोचता और कमाने के लिए आग्रह करता। ऐसी दशा में गंगा की विशालता तो बनती ही नहीं। संकट यह भी था कि वे क्षुद्र निर्झर अपना अस्तित्व तक बनाए न रह पाते और किसी गर्त में गिरकर भू-गर्भ में विलीन हो जाते। यदि यह अवरोध बनता तो इसे गंगा, हिमालय और निर्झर समुदाय के तीनों

वर्ग घाटे ही घाटे में रहते। उनके दुर्भाग्य पर दर्शकों को आँसू ही बहाने पड़ते। सुखाने वाली शक्तियाँ अट्टहास करतीं और धरती को हरीतिमा, सुषमा का और जन समुदाय को जो पवित्रता, प्रसन्नता का सुअवसर मिलता है, उसका कहीं दर्शन भी न हो पाता।

जलनदों की छोटी-छोटी इकाइयाँ मिलती चली जाती हैं। हिमालय छोड़ने तक गंगा गौरवशालिनी बन जाती है। मैदानी नदियाँ भी इसी नीति को अपनाती हैं और गंगा के सहकार में घाटा नहीं, लाभ सोचती हैं। समन्वय क्रम चलता है। गंगा का आकार, विस्तार बढ़ता है और उस समर्थता से संसार लाभान्वित होता है। घटता कुछ नहीं, वैभव बढ़ता है। गंगा बिहार प्रांत में पहुँचकर मूल उद्गम की तुलना में हजारों गुनी बढ़ जाती है। अजस्र अनुदानों के कारण जिसे घाटे की आशंका थी, वह निर्मूल हो जाती है। बंगाल में पहुँचने पर गंगा हजार रूपों में विभाजित होती है और वह समस्त भू-खंड हरीतिमा और संपन्नता से शोभायमान होता है। अंततः वह समन्वित चेतना समुद्र में विलय होती और तद्नुरूप विशाल जलराशि में परिणत होती है। निरीक्षक देखता है और इसे सदुद्देश्य के लिए समर्पण समन्वित की गरिमा के रूप में प्रतिपादित करता है। मनोबल प्रवाह का नाम नहीं, उस उदार सदाशयता का नाम है, जिसे अपनाकर प्रत्येक जलनद धन्य बना और उनका संयुक्त प्रयास देवोपम बनकर जन-जन की श्रद्धा का पात्र बना। कृपण अहंमन्यता को अवसर मिला होता और संकीर्ण स्वार्थपरता को अवसर मिला होता तो यह समन्वय संभव न हो पाता और गंगा नाम की गरिमा का अस्तित्व तक दृष्टिगोचर न होता।

यही है वह तत्त्वदर्शन जो व्यक्ति को सदाशयता अपनाने, स्वार्थपरता छोड़ने और स्रष्टा के राजकुमार वाली अपनी श्रेष्ठ भूमिका को निभाने के लिए सतत प्रेरणा देता रहता है। सोद्देश्य जिया गया जीवन इसी को कहते हैं। ऐसे उदारमना व्यक्ति ही जनसहयोग, सम्मान एवं दैवी अनुग्रह पाते हैं।

❐

सहकारी वृत्ति पनपे, लोकसेवी इसकी जिम्मेदारी अपने कंधों पर लें

यदि यह पूछा जाए कि बुद्धि किस प्रकार विकसित हुई? तो उसका उत्तर एक ही हो सकता है–पारस्परिक सहयोग से। आदिम-काल का मनुष्य अपने युग के उन विशालकाय प्राणियों की तुलना में कहीं अधिक दुर्बल था, जो प्रकृति-प्रकोपों के आगे ठहर न सके और अपना अस्तित्व तक गँवा बैठे। मनुष्य ही है जो अनेक उतार-चढ़ावों, आघात-प्रतिघात, अभाव-संकटों का सामना करते हुए क्रमशः प्रगति-पथ पर आगे बढ़ा है। अधिकाधिक सुविधा-साधन अर्जित करते हुए सभ्य एवं संपन्न बना है। यह कैसे बन पड़ा? इसकी खोज में गहराई तक उतरा जा सके तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि मानवी प्रगति का समूचा श्रेय उसकी सहकारी प्रवृत्ति को दिया जा सकता है। यदि स्नेह सौजन्य का, हिल-मिलकर रहने का, मिल-बाँटकर खाने का उदार आदान-प्रदान का स्वभाव बना होता तो संकीर्ण स्वार्थपरता में निरत अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य को भी दयनीय स्थिति में ही निर्वाह करना पड़ता। समूह बनाकर परिवार बसाकर, रहने और समुदाय को सुदृढ़ बनाने वाली आचार संहिता का ही प्रतिफल है जिसने बुद्धिमत्ता का वरदान प्रदान किया। सहयोग और विवेक के ये दो रथचक्र ही मानवी जीवनयात्रा को इतनी दूर तक घसीटकर लाए हैं।

सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ ही इन दिनों प्रधान हैं। उनकी उलझनें ही व्यक्ति और समुदाय को अनेकानेक संकटों से ग्रस्त रख रही हैं। इनके उपाय-उपचार अनेकों सोचे और अपनाए जा रहे हैं पर उन सबकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि सहयोग तंत्र कितना विकसित हुआ? यह न बन पड़ा तो निष्ठुरता और निर्दयता का बोलबाला ही रहेगा। छल अथवा आक्रमण द्वारा शोषण-उत्पीड़न का ऐसा दौर चलता रहेगा जैसा कि इन दिनों चल रहा है।

राजा और प्रजा की पुरानी शासन व्यवस्था अब समाज हो गई। प्रजातंत्री सहकार को आधार मानकर सरकार बनाने और चलाने का उपक्रम चल रहा है। पंचायतों, यूनियनों, संघ समितियों की स्थापना के बढ़ते हुए उत्साह से प्रतीत होता है कि लोकमानस ने सहकारी प्रयासों को मान्यता दी है। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन-वितरण का उत्तरदायित्व सहकारी समितियों को सौंपा जाता है। यह अच्छा लक्षण है। बेकारी की समस्या हल करने के लिए अपने देश में सहकारिता के आधार पर चलने वाले गृह उद्योग ही प्रमुख आधार हैं। कृषि भूमि सीमित है। सबको नौकरी कहाँ मिले ? गरीबी और बेकारी से जूझने के लिए गृह उद्योगों को पनपाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। किंतु वे एकाकी प्रयत्न से नहीं चल सकते। पूँजी, कच्चा माल, उत्पादन विक्रय का सारा काम अपने कंधों पर ओढ़ने वाला किसी उत्पादन व्यवसाय में सफल नहीं हो सकता। यह कार्य सहकारी प्रयत्नों से ही संभव है। बढ़ती बेकारी और गरीबी से छूटने के लिए सहकारी प्रयत्नों का आश्रय लेना ही कारगर सिद्ध हो सकता है। न केवल उत्पादन वरन विक्रय वितरण को भी इसी तंत्र के सुपुर्द करने से बात बनेगी।

कुटुंब एक प्रकार की नैतिकता प्रधान सहकारी समिति ही है। उसका सुसंचालन कर्त्तव्य एवं अधिकार का उभयपक्षीय परिपालन किए जाने पर ही बन पड़ता है। व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती धुरी परिवार है। परिवार क्या है ? उसका सीधा सा अर्थ है-व्यावहारिक सरकार। इसी में नीति, धर्म, सौजन्य, प्रगति और सुरक्षा की समस्त संभावनाएँ केंद्रीभूत हैं। परिवार पुराने ढर्रे पर भी बहुत समय से चलते आ रहे हैं, पर अब उन्हें वैज्ञानिक रूप दिया जा रहा है। 'कम्यून' इसी पद्धति का नाम है। इसमें वंश का एकत्रीकरण आवश्यक नहीं। समीपवर्ती लोग एक संयुक्त परिवार का गठन तो कर लेते हैं और भोजन, शिशु पालन, क्रय-विक्रय जैसे अनेक कार्य मिल-जुलकर कर लेते हैं तो उससे ढेरों समय तथा पैसा बचा लेते हैं। उस बचत को उपयोगी कार्यों में लगाने से सामूहिक प्रगति, प्रसन्नता एवं घनिष्ठता का एक नया मार्ग खुलता है।

प्रसन्नता की बात है कि सहकारिता का महत्त्व दिन-दिन अधिक अच्छी तरह समझा जा रहा है। विचारशील लोग उसे अपना रहे हैं। न केवल आर्थिक क्षेत्र में वरन जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उसका सफल प्रयोग करते जा रहे हैं। समाज के मूर्द्धन्य लोगों ने इस पक्ष में वातावरण बनाया और लोकमानस तैयार किया है। सरकारें भी अनुभव करती हैं कि उनके प्रजाजन इस आधार को अपनाने से ही सुखी-समुन्नत रह सकेंगे। इसलिए विभिन्न देशों में सरकारी तथा गैर-सरकारी समर्थन सहकारिता आंदोलन को मिल रहा है। समर्थकों ने अपनी वाणी मुखर की और प्रभावी लोगों ने उसे व्यावहारिक बनाने के लिए कदम बढ़ाए हैं।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट के अनुसार पूरे विश्व में सहकारी समितियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य क्रियाशील हैं। इजराइल में इस प्रकार की समितियाँ राष्ट्रीय व्यापार की ७५ प्रतिशत कृषि संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। पश्चिम यूरोप में ऐसी कोऑपरेटिव संस्थाएँ ५० से ६० प्रतिशत रासायनिक खाद व खाद्यान्नों की आपूर्ति करती हैं। उत्तरी अमेरिका में यद्यपि ऐसी समितियों द्वारा उपलब्ध की गई वस्तुओं का अनुपात अन्य देशों की तुलना में कम है।

विशेषकर कृषि एवं औद्योगिक बचत के क्षेत्र में सहकारी समितियों का विशेष योगदान है। जापान में ये ३० प्रतिशत वस्तुओं की आपूर्ति करती हैं एवं स्वीडेन में २६ प्रतिशत जबकि ताइवान एवं टर्की में ऐसी समितियाँ मात्र २० प्रतिशत वस्तुएँ उपलब्ध करा पाती हैं।

कुछ गिने-चुने देशों में कृषि को इन समितियों द्वारा बड़े पैमाने पर सहायता मिलती है जैसे-जर्मनी में ६३ प्रतिशत, फ्रांस में ६०, स्वीडन में ५० और जापान में ४२ प्रतिशत। बीमा के क्षेत्र में भी को-ऑपरेटिव सोसाइटी का अभूतपूर्व योगदान है। अमेरिका में यह समिति कृषि संबंधी ५० प्रतिशत हानियों की क्षतिपूर्ति करती है, जबकि जर्मनी में धन-संपत्ति की २८ प्रतिशत हानि का मुआवजा देती है।

इजराइल में ६० प्रतिशत खेती सहकारी तंत्र पर आधारित है। मिस्र में भूमि व कृषि सुधार योजना के अंतर्गत ४० प्रतिशत कृषि सहकारिता से होती है। जर्मनी में कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार की सहकारी समितियों को क्रियाशील देखा जा सकता है। आवास एवं गृह निर्माण संबंधी ११ प्रतिशत मामले यहाँ पूरी तरह सहकारी समितियाँ सँभालती हैं, जबकि ३५ प्रतिशत मामलों में इन्हें सहकारी सहायता प्राप्त होती है। नॉर्वे में १५ से १८ प्रतिशत आवास संबंधी कार्य पूर्णरूपेण सहकारी समितियों के जिम्मे रहता है। उत्तरी यूरोप में ऐसी समितियाँ औद्योगिक क्षेत्र में भी क्रियाशील रहती हैं। चेकोस्लोवाकिया में १५ प्रतिशत उद्योगों को इन समितियों की सहायता प्राप्त होती है, जबकि पोलैंड में १३ प्रतिशत औद्योगिक प्रतिष्ठानों को इसकी सहायता मिलती है।

ऐसी सहकारी समितियाँ न सिर्फ कृषि, उद्योग एवं गृह निर्माण के क्षेत्र में ही काम करती हैं वरन शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में भी इन्हें गतिशील देखा जा सकता है। स्कूल-कॉलेजों में ऐसी समितियाँ सदस्यों व शिक्षकों के संयुक्त तत्त्वावधान में काम करती हैं। मानवी उत्थान को ध्यान में रखते हुए इन समितियों का प्रधान लक्ष्य छात्रों को नैतिक बौद्धिक शिक्षा देना है। इस लक्ष्य को पूरा करने में ये पूर्णरूपेण सफल रही हैं। डेनमार्क, स्वीडन, इंगलैंड, फ्रांस, पोलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, भारत, पाकिस्तान, जापान, श्रीलंका, मलेशिया, कोस्टारिका, रूस, बेल्जियम, युगोस्लाविया और हंगरी में से प्रत्येक में छात्र सहकारी समितियाँ काम कर रही हैं और दिनोदिन उनकी गतिविधियाँ बढ़ती ही जा रही हैं। फ्रांस और पोलैंड में यह तंत्र काफी सुविकसित है एवं वहाँ की प्राथमिक व माध्यमिक शालाएँ इस प्रकार के संगठन बनाने में प्रमुख भूमिका निभाती हैं।

विश्व भर के मूर्द्धन्य विचारक सहकारिता अभियान का अब मुक्तकंठ से समर्थन कर रहे हैं। अधिकांश का कहना है कि इससे विश्वमानव की परिकल्पना को काफी सीमा तक सार्थक किया जा

सकता है। शीत युद्ध के दबाव को कम करने, परस्पर स्नेह सौहार्द्र बढ़ाने में उसकी अगले दिनों महती भूमिका होगी।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. फाऊकेत का मत है, "सहकार का मुख्य उद्देश्य है 'व्यक्तित्व निर्माण'। व्यक्तित्व निर्माण समष्टिगत एवं व्यष्टिगत दोनों ही अर्थों में होना चाहिए ताकि हर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन स्तर को समग्र एवं पूर्ण बना सके।"

पॉल ह्यबर्ट कैसलमेन का कथन है, "सहकारी शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य व्यक्ति को सहकारिता का पाठ पढ़ाना है। साथ ही उनमें ऐसी भावनाओं का विकास करना भी है जो सहकारी समितियों के प्रति उनकी वफादारी को ठोस बना सके और यह बता सके कि सच्ची वफादारी न सिर्फ समाज के लिए अपितु उनके लिए भी लाभदायक होगी।"

सहकारी समितियों के अभ्युदयकाल में लोगों ने सहकार की महत्ता समझी और इसकी आवश्यकता अनुभव की। एतदर्थ उन्होंने एक ऐसी समाज व्यवस्था की कल्पना की जो मानवी नैतिक मूल्यों पर आधारित हो तथा व्यक्तियों में सद्गुणों का विकास कर सके और खुशियाँ बाँट सके। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सहकारी समितियों का गठन हुआ। ऐसे सहकारी संगठन व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होते हैं और अंततः एक ऐसी मानव जाति को जन्म दे डालते हैं जो सद्गुण संपन्न हो। 'ईच फॉर ऑल, एंड ऑल फॉर ईच' यह इसका मूल सिद्धांत है, अर्थात प्रत्येक दूसरे के सुख-दुःख का खयाल करे, उन्हें सहयोग सहकार दे और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति को अपना समझे। इस दृष्टिकोण से 'सहकार' विश्वधर्म मानवधर्म बन जाता है।

इस प्रकार की सहकारिता से एकता के बंधन मजबूत होंगे और विश्वबंधुत्व की भावना बढ़ेगी। सामाजिक संस्थान के रूप में लोगों के अंतःकरण में शालीनता, बलिदान और उत्कृष्टता की भावना विकसित कर यह सामाजिक धरातल में सुधार-संशोधन लाने में मदद कर सकती है।

विश्व के अनेक देशों में इस प्रकार के सामाजिक संगठन क्रियाशील हैं और धीरे-धीरे जन समर्थन प्राप्त कर लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इस संदर्भ में जापान के घरेलू जीवन के विकास से संबंधित समितियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये समितियाँ गृह-व्यवस्था संबंधी हर प्रकार का प्रशिक्षण व मार्गदर्शन महिलाओं को प्रदान करती हैं। उनके प्रशिक्षण में उन सारे विषयों का समावेश रहता है जिसकी कि किसी सुगृहणी को आवश्यकता है। इनमें प्रमुख हैं-पाक विद्या, सिलाई, फलों एवं सब्जियों की सुरक्षा, गुलदस्ते बनाना व फूल सजाना, फर्नीचर एवं घर की साज-सज्जा। वस्त्र धोने की मशीन, रेफ्रिजरेटर, रेडियो, टी. वी. आदि यंत्रों के संचालन एवं दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता संबंधी सुमूल्य परामर्श भी इन समितियों से प्राप्त किए जा सकते हैं। साथ ही आवश्यकता पड़ने पर व्यक्तियों को ये रुपये उधार भी देती हैं।

विकासशील देशों में ऐसी समितियों का कार्यक्षेत्र अत्यंत सुरक्षित है। वहाँ पूरे समाज को इससे लाभान्वित किया जा सकता है। भारत जैसे देश के देहाती क्षेत्र में ऐसी सामाजिक समितियाँ विशेष प्रभावशाली सिद्ध हो सकती हैं। ऐसे संगठनों के द्वारा विभिन्न भाषा-भाषी लोगों, वर्णों, संप्रदायों, वर्गों एवं प्रांतों के लोगों को एक ही कंगूरे के नीचे एकत्रित कर उनमें सद्भाव-प्रेम बढ़ाकर सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। साथ ही सेवा समितियाँ विभिन्न प्रकार की शैक्षणिक व सामाजिक समस्याओं से संबंधित शिविर आयोजित कर विभिन्न पंथों व धर्मों के अनुयायियों को एक साथ इकट्ठा कर उनकी समस्याओं का हल प्रस्तुत कर सकती हैं। इससे उनके बीच पारस्परिक प्रेमभावना का विकास होगा और वर्ग, भाषा, धर्म आदि के आधार पर विभेद कर विद्वेष उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति समाप्त होती जाएगी। सहकारिता को बड़े व्यापक अर्थों में लिया जाना चाहिए। यह मात्र भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है इसकी गहराई में प्रवेश करें तो सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि सहकारी आंदोलन चलाए कौन ? इसका उत्तर खोजते हैं तो सारा ध्यान ऐसे समुदाय पर ही जाता है जो अपनी दुर्बलताओं पर

विजय प्राप्त कर, निर्वाह आदि की जिम्मेदारियों से मुक्त होकर समाज के पुनर्निर्माण में नियोजित होने को कृत संकल्प हों। ऐसे व्यक्तियों को लोकसेवी की संज्ञा दी जा सकती है। व्यक्ति, परिवार निर्माण तथा समाज में सत्प्रवृत्तियों का प्रचलन इन्हीं नर-पुंगवों पर निर्भर है। उनकी ही सत्ता समाज का स्तर ऊपर उठाती है व राष्ट्र को आगे बढ़ाती है। आज ऐसे व्यक्तियों का तो नितांत अभाव नजर आता है। राष्ट्रीय चरित्र सुधारे बिना किसी भी उच्चस्तरीय प्रयास को पूरा नहीं किया जा सकता। आज संकट श्रेष्ठ स्तर के व्यक्तित्वों के अभाव का ही है। संस्कृति का इतिहास क्रम बताता है कि प्राचीनकाल में देश का गौरव उच्च शिखर पर था। इसका श्रेय उस समय के लोकसेवियों को ही जाता है। वे अपना सारा समय दो कार्यों में खरच करते थे-एक तो अपना स्वयं का व्यक्तित्व उच्चकोटि का विनिर्मित करना ताकि लोगों पर उसका समुचित प्रभाव पड़ सके और दूसरे निरंतर अनथक परिश्रम तथा अनवरत उत्साहपूर्वक जनमानस में उत्कृष्टता समावेश करने के लिए संलग्न रहना, इसी वर्ग को साधु ब्राह्मण कहा जाता था। वानप्रस्थों की यही परंपरा थी। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का एक निश्चित भाग लोकमानस में उत्कृष्टता संवर्द्धन के लिए सुरक्षित रखना पड़ता था और उस प्रयोजन में लगाना होता था। उनकी संख्या जितनी बढ़ती थी उसी अनुपात से राष्ट्रीय जीवन समृद्ध होता चलता था। अपने प्राचीन गौरव का यही रहस्य था। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि अब ये तीनों संस्थाएँ नष्ट हो गईं।

आजकल साधु, ब्राह्मण और वानप्रस्थ-तीनों ही कहीं दिखाई नहीं देते। उनके वेश और चोला में बड़ी संख्या में यत्र-तत्र अपना दरबार लगाए घूमते-फिरते देखा जाता है परंतु उनका लक्ष्य आदर्श और कर्तृत्व सर्वथा विपरीत हो गया है फलतः उनकी उपयोगिता भी नष्ट हो गई है। इस विपर्यय पर पश्चात्ताप करने और रोना रोते रहने से काम नहीं चलेगा। आवश्यकता की पूर्ति उस अभाव को पूरा करने से ही संभव होगी। युग निर्माण योजना ने इन संस्थाओं में से वानप्रस्थ संस्था का उद्धार करने का काम हाथ में लिया है और बड़ी संख्या में वानप्रस्थों

को प्रशिक्षित कर जन जागरण का, लोकमानस का परिष्कार करने में प्रवृत्त करने का अभियान चलाया है।

इस अभियान को बहुत कुछ सफलता भी मिली है। परंतु काम इतने भर से नहीं चलेगा। अभाव की पूर्ति एक-दूसरे ढंग से करना भी आवश्यक है। वानप्रस्थ तो वही लोग ले सकते हैं जो पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त हो चुके हैं, उनकी संख्या इतनी पर्याप्त नहीं हो सकती कि बुरी तरह बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारा जा सके। अतः प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को अपने व्यस्त जीवन में से थोड़ा-थोड़ा समय निकालकर सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन तथा लोकमानस के परिष्कार में लगाना चाहिए। सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन, सामाजिकता, विचारशीलता और दूरदर्शिता जैसे गुणों का विकास ही वह आधार है जिस पर प्रगति की सारी संभावनाएँ निर्भर हैं।

समय न मिलने की शिकायत उन्हीं लोगों को हो सकती है जो इस आवश्यकता को गंभीरता से नहीं समझते हों या समझना नहीं चाहते हों। यदि अपने मन में राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उन्नति जैसे कार्यों के लिए व्यक्तिगत लाभों जैसी ही दिलचस्पी उत्पन्न की जा सके तो व्यस्त दिखाई देने वाले थोड़े से लोग भी थोड़ा-थोड़ा योगदान देकर ऐसा अभियान चला सकते हैं जिससे वर्तमान दुर्दशा दूर होने में तनिक भी देर न लगे। आवश्यकता केवल ऐसे लोगों की है जिनके मन में देशभक्ति, समाज सेवा, परमार्थ एवं लोकमंगल के लिए कुछ करने की भावनाएँ उमंग की तरह लहरा रही हों ऐसे व्यक्ति ही देश और समाज के नवनिर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

समाज निर्माण में निस्स्वार्थ भाव से कार्यकर्त्ता के रूप में उतरने वाले सेवाभावी व्यक्ति ही कुछ उल्लेखनीय कर दिखा सकते हैं। यों कार्यकर्त्ता तो राजनीतिक पार्टियों के पास भी कम नहीं हैं किंतु वे राजनीति को ही सब मान बैठे हैं। सत्ता संघर्ष में यश और पद पाने में ही उनकी प्रधान रुचि है। कूटनीति के क्षेत्र में जिस तरह की तिकड़में भिड़ानी और शतरंज की चालों की तरह अपनी गोटियाँ बिठानी पड़ती हैं, उन सबके अभ्यस्त होने के कारण इस स्तर के लोग अपना निज का

आत्मबल भी खो बैठते हैं और इस तरह के रचनात्मक कार्यों में भी उनकी रुचि नहीं रहती। उनका ढर्रा भी संत-महंतों की तरह अपनी पूजा महिमा और कुरसी बनाए रखने के रूप में ही चलता और लुढ़कता रहता है। वे जिस साँचे में ढल गए होते हैं उसको बदलना उनके स्वयं के लिए मुश्किल है, अतएव ऐसे व्यक्तियों से कोई आशा नहीं की जानी चाहिए कि उस क्षेत्र में लगे लोग देश की प्रगति के लिए नितांत आवश्यक कार्य जनमानस का परिष्कार करने में लगेंगे एवं सत्प्रयोजन हेतु समूहबद्ध होंगे।

यह काम नया है और इस काम को करने के लिए एक नया वर्ग ही तैयार होना चाहिए। गृहस्थ में रहते हुए भी जो साधु-ब्राह्मण की परंपरा निभा सकें, ऐसे भावनाशील व्यक्तियों की आज नितांत आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हर उस व्यक्ति को आगे आना चाहिए जो अपने राष्ट्र, जाति और समाज की प्रगति के लिए शताब्दियों से जनमानस में घुसी बैठी विकृतियों और प्रतिगामिता को हटाने की आवश्यकता अनुभव करते हों। यदि ऐसे व्यक्ति आगे आएँ और एक आदर्श उपस्थित करें तो अन्य क्षेत्रों में लगे लोगों का भी ध्यान उस ओर जाएगा। वे भी इन प्रयत्नों का महत्त्व समझेंगे, उनमें भी सेवा बुद्धि जागेगी और वे भी इन प्रयत्नों का अनुगमन करने की प्रेरणाएँ प्राप्त करेंगे।

प्रस्तुत प्रयोजन के लिए जनमानस के परिष्कार की, सहकार व्यवहार की आवश्यकता समझने वाले व्यक्तियों को सामूहिक तौर पर संगठित रूप से काम करने के लिए उठ खड़े होना चाहिए तथा ऐसे प्रयास किए जाने चाहिए जिनसे लोगों के सोचने-समझने का ढंग बदले। वे सही ढंग से प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर होने के लिए तत्पर हो उठें। इस प्रकार शताब्दियों से जड़ें जमाए बैठी दुर्बलता दूर होगी, तभी एक नए सुसंस्कृत समाज और उन्नत राष्ट्र का निर्माण हो सकेगा।

❐

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)